शरत्चन्द्र :

व्यक्ति और [illegible]

[संस्मरण और साहित्यिक मूल्यांकन]

लेखक

इलाचन्द्र जोशी

अशोक प्रेस

पटना ६

मूल्य : तीन रुपया

मुद्रक तथा प्रकाशक
अशोक प्रेस, पटना ६

प्रथम संस्करण, २०००
अप्रील, १९५४

पृष्ठ संख्या : २५०

प्रकाशकीय

श्री इलाचन्द्र जोशी आज हिन्दी के चोटी के उपन्यासकार माने जाते हैं। अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भकाल में ही आपको अमर बँगाली उपन्यासकार स्वर्गीय शरत्‌चन्द्र चटर्जी को बहुत निकट से देखने का अवसर मिला। अपनी उन्हीं भेंटों और साहित्यिक वार्तालापों को जोशी जी ने संस्मरणात्मक ढंग से लिखा है, जो संगठित रूप से सर्वप्रथम बार इस पुस्तक में छापा गया है।

सच तो यह है कि शरत्‌चन्द्र ने बीसवीं शती में रह कर भी अपने जीवन को पूरी तरह गुप्त और रहस्यमय ही बनाए रखा था, लेकिन जोशी जी ने उनसे जो भी जानकारी प्राप्त की उसी के आधार पर इस पुस्तक की रचना कर उन्होंने एक साहित्यिक ऋषि का रहस्यमय जीवन ही हमारे सामने प्रकट नहीं किया बल्कि इतिहास के एक बहुत प्रमुख और बंद अध्याय को हमारे सामने खोल कर रखा है।

हमें विश्वास है कि पाठक इस पुस्तक का स्वागत करके ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन के लिए हमें प्रोत्साहित करेंगे।

—प्रकाशक

क्रम

शरत्चन्द्र :

व्यक्ति और कलाकार

इलाचन्द्र जोशी

संस्मरण

१

शरत्चन्द्र का पहला परिचय मुझे उनकी जिस रचना द्वारा मिला था वह था उनका सबसे नीरस उपन्यास—'पल्ली-समाज'। तब हिंदी में ऐसे लोगों की संख्या नहीं के बराबर थी जो शरत् के नाम से भी परिचित रहे हों। उन दिनों मैं एक स्कूली लड़का था, पर बंगला साहित्य की तत्कालीन गतिविधि से बहुत-कुछ परिचित हो चुका था। तब बंगला मासिक पत्रों में शरत्चन्द्र की क्रान्तिकारी प्रतिभा की काफी चर्चा होने लगी थी, इसलिए उनकी रचनाएँ पढ़ने के लिए मैं उत्सुक हो उठा। 'पल्ली-समाज' उन दिनों गुरुदास चटर्जी की आठ आना ग्रंथमाला के अंतर्गत ताजा-ताजा निकला था। इसलिए सबसे पहले उसी को मैं पढ़ने लगा। मुझे वह एक विचित्र ही चीज लगी। उसमें न तो प्रचलित अर्थ में कोई नायक ही था, न नायिका। न तो सारे उपन्यास में रोमांस की रंगीनी का ही कोई लेश था, न पाठकों का कुतूहल उभाड़ती रहने वाली घटनाओं की बहुलता। उसमें था केवल दुःख-दैन्य से पीड़ित, संकीर्ण सांस्कृतिक घेरे के भीतर बंधे हुए, परंपरा-प्रचलित कुसंस्कारों से घिरे हुए बंगाल के निम्नमध्यवर्गीय देहाती समाज का सीधा-सादा यथार्थ चित्रण। उपन्यास का सारा वातावरण मुझे एकदम विजातीय, अपरिचित-सा लगा। पर यह सब होने पर भी

लेखक की वर्णन और चित्रण-शैली ऐसी सजीव और आकर्षक लगी कि मैं बड़े धैर्य से उसे अंत तक पढ़ गया। उस 'नीरस' उपन्यास के वास्तविक महत्त्व का अनुभव मुझे बाद में हुआ।

पर उस रचना को पढ़ने के बाद लेखक की किसी अन्य रचना को पढ़ने की उत्सुकता मुझे नहीं हुई। उसके प्रायः एक वर्ष बाद मेरे हाथ शरत् की एक ग्रंथावली लग गई, जो वसुमती कार्यालय से प्रकाशित हुई थी। उसमें उनके कई उपन्यास और कहानियाँ एक साथ संगृहीत थीं—'बैकुण्ठेर उइल,' 'चन्द्रनाथ', 'बड़ी दीदी,' 'स्वामी', आदि। उनके बाद तक प्रकाशित शरत्चन्द्र के सभी उपन्यास और कहानियाँ मैंने पढ़ीं—'चरित्रहीन', 'देवदास', 'श्रीकांत', 'दत्ता', 'पंडित मोशाई', 'विराज बऊ', 'बिन्दुर छेले', आदि-आदि। उन्हें पढ़कर भारतीय निम्नमध्य-वर्गीय समाज की ऐसी सजीव झाँकियाँ मेरी किशोर-वयस्क आँखों के आगे से होकर गुजरती चली गईं जिन्हें किसी तरह भी भुलाया नहीं जा सकता था। वह सारी चित्रावली एक ऐसे सूक्ष्म निरीक्षक द्वारा अंकित लगी जिसकी केवल बाहरी दृष्टि ही पैनी नहीं थी, बल्कि अंतर्दृष्टि भी सीधे मर्म में प्रवेश करने-वाली थी। एक पूर्णतः नई दुनिया मेरे आगे उद्घाटित हो गई, जिससे मुझे उस कच्ची उम्र में ही जीवन और जगत के सूक्ष्म, गहन और व्यापक अध्ययन के लिए प्रेरणा मिलने लगी। निम्नमध्यवर्गीय सामाजिक और पारिवारिक परंपरा में पले हुए आलसी और निकम्मे किंतु भावुक और कवि-हृदय नवयुवकों के ऊपर बाहरी दुनिया से पड़नेवाले प्रभाव के फलस्वरूप उनमें धीरे-धीरे जो सामाजिक विद्रोह की भावना जग रही थी वह उनकी चारित्रिक दुर्बलता के कारण किस प्रकार आत्म-विद्रोह

में परिणत हो रही थी इसका निदर्शन शरत् ने आश्चर्यजनक कला-कौशल के साथ किया था। उनकी जादू भरी तूलिका अपने चित्रों में ऐसे आकर्षक रंग भरती जाती थी जो उनके पात्रों की दुर्बलताजनित विकृतियों को भी अपूर्व सुंदर और सम्मोहक रूप में पाठकों के आगे रखती थी। किशोर हृदय सबसे अधिक भावुक होता है, इसलिए शरत् का जादू मेरे सिर पर चढ़कर बोलने लगा था। उनकी पात्रियों का व्यक्तित्व उनके पात्रों से कुछ कम आकर्षक नहीं था। उनके पात्र जितने ही उच्छृंखल, चरित्रहीन, इच्छाशक्ति-रहित और सस्ते ढंग की भावुकता से ग्रस्त थे, उनकी पात्रियाँ उतनी ही संयत, दृढ़ चरित्र-शक्ति-संपन्न और गंभीर भाव प्रवणता से प्रेरित थीं। दोनों अंध सामाजिक परिस्थितियों से विद्रोह करने के लिये छटपटा रहे थे, पर पुरुष-पात्रों का विद्रोह जहाँ आत्म-घात का पथ पकड़ने को आतुर था वहाँ स्त्री-पात्रों की विद्रोह-भावना आत्म-त्याग द्वारा अपनी अंतःप्रवृत्तियों के अधिकाधिक उदात्तीकरण की ओर उन्मुख हो रही थी। उन स्त्री-पात्रों के चरित्र की समुद्रवत् अतल गहराई के ऊपर शरत् के चंचल-प्राण पुरुष पात्र फेनिल लहरों की तरह उमड़ते और टूटते चले जा रहे थे। कुल मिलाकर शरत् के पात्र-पात्रियों का सम्मिलित संसार मेरे किशोर मन पर एक अजीब रहस्यमय प्रभाव छोड़ता चला जा रहा था।

प्रायः दो वर्ष बाद मैं अपने चारों ओर की बंधनग्रस्त परिस्थितियों से उकताकर भागकर कलकत्ते चला गया—वहाँ के विशाल जन-समूह के बीच में अपने लिए मुक्ति का पथ खोजने की दुराशा से। पर एक दूसरा कारण भी मेरे कलकत्ता भागने की प्रेरणा के पीछे था। कलकत्ता जाकर शरत् की

दुनिया को प्रत्यक्ष देखने की आकांक्षा मेरे मन में बहुत दिनों से थी। और साथ ही उस महापुरुष के दर्शन करने की भी तीव्र इच्छा थी जिसने एक नये ही संसार को मेरे आगे पर्दा-दर-पर्दा खोल दिया था। शरत् ने अपने उपन्यासों और कहानियों में कलकत्ते के जिन-जिन स्थानों का उल्लेख किया था उन्हें देखने के लिये मैं कुछ दिनों तक दिनभर और रात में बहुत देर तक पैदल चक्कर लगाता रहा। इस प्रकार चीतपुर (जहाँ भग्नहृदय देवदास अपने को गले तक गंदगी में डुबोकर आत्महत्या कर रहा था), चोरबगान (जहाँ बिजली अपने भीतर में प्रस्फुटित सहस्रदल कमल को स्वयं अत्यंत निर्ममता से कुचलकर कीचड़ में लोटती हुई मोहवश अपने नारी-हृदय के मूल्य को एकदम भूली हुई थी, और जहाँ सहसा उसने एक दिन तूफानी झोंके से, बिजली की झलक में, सत्य को पाया था) और पाथुरेघाटा (जहाँ 'चरित्रहीन' की अत्यन्त रहस्यमयी पात्री किरणमयी तीव्र अंतर्द्वन्द्वों के कठोर आघात-प्रतिघातों का अनुभव करती हुई पति-सेवा और पर-पुरुष-सेवा के बीच की उलझन में पड़ी हुई थी), आदि स्थानों के गन्दे और अभावग्रस्त जीवन के बाहरी निरीक्षण और ऊपरी अध्ययन का थोड़ा-बहुत अवसर मुझे मिला।

पहली बार कलकत्ता पहुँचने के प्रायः एक वर्ष बाद तक मेरा मानसिक वातावरण एकदम शरत्मय बना रहा। तब मेरी उम्र प्रायः बीस वर्ष की होगी। मैं सारी दुनिया को शरत् की ही आँखों से देखता था और उन्हीं के पात्रों और पात्रियों को सर्वत्र खोजता फिरता रहता था। शरत्चंद्र से मिलने की तीव्र लालसा हर समय मन में बनी रहती थी, पर उन दिनों मैं अत्यंत संकोचशील था, और जिस व्यक्ति की प्रतिभा ऐसे प्रबल

रूप से मेरे ऊपर छाई थी उसके पास फटकने का साहस मुझे नहीं हो पाता था। अंत में जब उस लालसा ने दुर्दमनीय रूप धारण कर लिया तब एक दिन मैंने हिम्मत बाँधकर एक जवाबी कार्ड उनके प्रकाशक को लिख भेजा जिसमें उनका पता मैंने जानना चाहा था। उत्तर बिना विलंब के मिल गया। मालूम हुआ कि शरत्चंद्र हावड़ा के पास शिवपुर नामक स्थान में रहते थे। पत्र में न कोई दिशानिर्देशन था, न मकान का नंबर ही बताया गया था। बहुत संकल्प-विकल्प के बाद अंत में एक दिन मैं अपने बहु आकांक्षित मंदिर की खोज में निकल ही पड़ा। हावड़ा स्टेशन पार करके ट्राम पकड़ी और जहाँ तक ट्राम जाती थी वहाँ तक चला गया। ट्राम के अंतिम स्टेशन पर उतर कर लोगों से पूछता हुआ एक ऐसी जगह चला गया जहाँ का वातावरण बिलकुल देहाती लग रहा था। जगह-जगह ताड़, नारियल और सुपारी के पेड़ लगे हुए थे और उनके बीच से होकर छोटी-छोटी कच्ची सड़कें अज्ञात दिशाओं की ओर चली गई थीं। बीच-बीच में खाई, खंदक और नाले भी पार करने पड़ते थे। इधर-उधर एक दूसरे से काफी दूरी पर छोटे-छोटे बंगलों की तरह के मकान बने हुए थे।

रास्ते में जो भी मिलता उसीसे मैं पूछता कि विख्यात उपन्यास-लेखक शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय कहाँ रहते हैं? दो-एक मिनट तक काफी सोच-विचार करने के बाद भी कोई बता नहीं पाता था। प्रायः एक घंटे तक मैं इधर-उधर चक्कर काटता रहा और लोगों से पूछता रहा पर कोई फल नहीं मिला। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं था कि इतने बड़े लेखक का पता शिवपुर जैसे छोटे स्थान में नहीं लग पा रहा है। अन्त में एक सज्जन ने कहा—"हाँ, हाँ, शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय यहाँ रहते हैं।" और

उन्होंने पूरब की ओर उँगली करके एक सफेद मकान दिखाया। कहा कि वही शरत् बाबू का मकान है।

तब तक मैं इस कदर थक चुका था कि उनसे पूछने और कहने के लिये जो-जो बातें मैंने सोच रखी थीं उन सबको भूल गया था। मैंने सोचा कि मकान का पता तो अब लग ही गया है, इसलिये यह अच्छा होगा कि मैं कल ताजा होकर आऊँ और तब मिलूँ।

दूसरे दिन सबेरे ही मैं अपने कलकत्ता-स्थित वासस्थान से रवाना हो गया। हावड़ा पार करके जब शिवपुर पहुँचा तो उत्सुक और साथ ही आशंकित हृदय से धीरे-धीरे कदम रखता हुआ उसी सफेद मकान के दरवाजे पर पहुँचा। वहाँ एक अधेड़ सज्जन दतौन कर रहे थे। मैंने उनसे कहा कि मैं शरत् बाबू से मिलना चाहता हूँ। उन्होंने कहा—"कहिये, क्या काम है? मैं ही हूँ।" तब तो मैंने अत्यंत श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़े और संकोच-जड़ित स्वर में उन्हें बताया कि उनकी रचनाएँ पढ़कर मैं किस कदर प्रभावित हुआ हूँ, और उनसे मिलने की तीव्र इच्छा बहुत दिनों से थी, जो आज पूरी हुई है; आदि-आदि। पहले वह कुछ समझे नहीं, फिर बोले—"ओह! आप उपन्यासकार शरत् चाटुर्ज्जे से मिलना चाहते हैं?" मेरा उत्साह एकदम ठंढा पड़ गया। मालूम हुआ कि स्वयं उन सज्जन का नाम भी शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय है, पर वह उपन्यासकार नहीं हैं। मैंने हताश भाव से कहा—"जी हाँ।"

"वह उस तरफ रहते हैं।" कहकर उन्होंने उत्तर की ओर उँगली दिखाई—"वह जो उस गली के बाईं ओर लाल मकान दिखाई दे रहा है, वहीं वह मिलेंगे।"

निराश मन से मैं उसी मकान की ओर बढ़ा। निर्दिष्ट मकान पर पहुँचकर दो-तीन सीढ़ियाँ चढ़कर मैं बरामदे पर खड़ा हो गया। सामने एक छोटा-सा कमरा खुला था, जहाँ तीन-चार आदमी एक मेज पर बिछे हुए शतरंज के फड़ को घेरकर ध्यान-मग्न भाव से बैठे हुए थे। मैंने बरामदे से ही हाँक लगाई—"क्या विख्यात उपन्यासकार शरत् बाबू इसी मकान में रहते हैं ?"

एक अधेड़ सज्जन, जिनके सिर के प्रायः आधे बाल पक चुके थे, दाढ़ी-मूँछ साफ थी, केवल चेहरे पर सफेद बालों की खूँटियाँ यत्र-तत्र दिखाई देती थीं, और जो बंडी और धोती पहने शतरंज के खेल में बड़ी दिलचस्पी ले रहे थे, सिर उठाकर बोले—"कहिये आप कैसे आये हैं ? आइये, बैठिये।"

मैंने ससंकोच भीतर प्रवेश करते हुए कहा—"मेरा उन्हीं से कुछ काम है।"

"बैठिये। मैं ही हूँ शरत्चंद्र। कहिये।"

"विख्यात उपन्यासकार शरत्चंद्र ?" यह प्रश्न स्वयं मुझे अशोभन लगा, पर चूँकि एक बार धोखा खा चुका था, इसलिए यह पूछना आवश्यक था।

वह बड़ी शालीनता से मुस्कुराये। फिर बोले—"हाँ, एक प्रकार विख्यात ही हूँ।"

मैं सहम गया। कुछ घबराये हुए तरीके से मैंने सीधा-सादा नमस्कार किया और बैठने के लिए कोई कुर्सी खोजने लगा। पर इस छोटे-से कमरे में कहीं कोई खाली कुर्सी नहीं थी, एक सज्जन उठ खड़े हुए और बोले—"बैठिये !"

थोड़ी-सी तकल्लुफ के बाद मैं बैठ गया। बैठते ही मैंने कहा—"आपसे मैं बहुत-सी बातें पूछना चाहता था।" इस

छोटे से कमरे में उपस्थित सज्जनों के बीच में मुझे उत्साह नहीं हो रहा था।

"तो चलिये मेरे मकान में। पास ही है।"

तो वह भी उनका मकान नहीं था!

वह उठे और मैं उनका अनुसरण करता चला, पास ही एक मकान के भीतर हम लोगों ने प्रवेश किया। एक कुत्ता, जिसकी सूरत बहुत भयावनी थी, और जो किसी अच्छी जात का नहीं, बल्कि आवारा-सा दिखाई देता था, मुझे देखते ही विकट स्वर में भूँकने लगा। "भेलू! भेलू!" कहकर शरतचंद्र ने प्रेमपूर्वक उसे डाँटा। मैंने भी पुचकार के साथ सीटी बजायी; तब वह मुझे चाटने लगा।

जिस कमरे में हम लोगों ने प्रवेश किया वह काफी बड़ा था, पर कुछ सजा हुआ नहीं था और फर्निचर भी वहाँ बहुत साधारण था। कुछ कुर्सियाँ, बेंच, एक कुछ बड़ी-सी और एक छोटी-सी मेज। दीवार से सटाये हुए कुछ 'रैक' थे, जिनमें पुस्तकें सजाकर रखी गई थीं। पर कमरा एकांत था और मुझे इस समय इसी बात की आवश्यकता थी। अपने इतने दिनों के स्वप्नाकांक्षित जन से बड़े झंझटों के बाद भेंट हो पाई थी, इसलिए कुछ क्षण उनके साथ मैं एकांत में बिताना चाहता था!

एक नौकर ताजा हुक्का भरकर रख गया। हम दोनों इत्मीनान से एक दूसरे के आमने-सामने बैठ गये। शरतचंद्र ने बड़े आराम से हुक्का गुड़गुड़ाते हुए बड़े प्रेम से कहा—"अब कहिये।"

मैंने उन्हें विस्तार से बताया कि मैं अबंगाली होते हुए भी बचपन से ही बंगला साहित्य में दिलचस्पी लेता आया हूँ और उनकी तब तक प्रकाशित प्रायः सभी रचनाएँ बड़े चाव से मैंने

पढ़ी हैं। उन्हें पढ़ने पर कुछ प्रश्न मेरे मन में उठे हैं, उन्हीं के संबंध में मैं बातें करना चाहता हूँ।

तब तक हम लोगों के बीच बंगला में ही बातें हो रही थीं। बंगला भाषा का ज्ञान तो मुझे पहले से ही था, कलकत्ते में रहने पर मैंने अपने बंगला उच्चारण को भी काफी दुरुस्त कर लिया था, जो अब अभ्यास न रहने से फिर गड़बड़ा गया है। उन दिनों पोशाक-पहनावा भी मेरा बंगालियों का-सा ही था। इसलिये संभवतः शरत्‌चन्द्र के मन में तब तक मेरे अबंगाली होने का संदेह नहीं उत्पन्न हुआ था। मेरे बताने पर कि मेरी मातृभाषा हिन्दी है, उन्होंने स्वयं भी शुद्ध हिन्दी में बोलना आरंभ कर दिया। कहने लगे—"मैंने हाई स्कूल में हिन्दी ही पढ़ी थी और हिन्दी मैं बहुत अच्छी बोल लेता हूँ।" सचमुच उनके हिन्दी उच्चारण से यह नहीं लगता था कि कोई बंगाली बोल रहा है। उन्होंने यह भी बताया कि वह कलकत्ते में किसी एक आफिस में अँगरेजी से हिन्दी में अनुवाद करने का काम भी कर चुके हैं!

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसके बाद हम दोनों कभी हिन्दी में और कभी बंगला में बातें करने लगे। मैं तब तक स्थिर हो चुका था और उनके साथ घर के-से वातावरण का अनुभव करने लगा था।

मैंने पूछा—"आपने अपनी बहुत-सी रचनाओं में वेश्याओं और तथाकथित असती नारियों को जो नायिकाओं के रूप में चुना है, इसका कारण क्या आपकी व्यक्तिगत रुचि है या किसी विशेष आदर्शात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर, केवल अपने सैद्धांतिक पक्ष के समर्थन के लिए आपने ऐसे चरित्रों की अवतारणा की है?"

'व्यक्तिगत रुचि' वाला प्रश्न बड़ा रूढ़ था, यह मैं मानता हूँ। पर मैं एक तो तब तक उनके स्वभाव की बेतकल्लुफी से परिचित हो चुका था, दूसरे जिस विशेष प्रश्न पर मैंने अपने ढंग से बहुत दिनों तक सोचा था उस पर लेखक का मत स्वयं उसी के मुख से जानने के लिए मैं अत्यंत उत्सुक था। इसलिए रूढ़ समझे जाने का खतरा उठाकर भी मैं पूछ ही बैठा!

"दोनों बातें हैं", सहज भाव से उन्होंने कहा—"मैं व्यक्तिगत रूप से ऐसे चरित्रों के घनिष्ठ संपर्क में आया हूँ। और इसी कारण मुझे अत्यंत तीव्र रूप से यह अनुभव हुआ है कि वेश्याएँ समाज की सबसे अधिक शोषित, सबसे अधिक अत्याचारपीड़ित नारियाँ हैं। आर्थिक विवशता से वे जिस प्रकार का गंदा और घृणित जीवन बिताती हैं उससे उबरने के लिए वे जानकर या अनजान में सब समय छटपटाती रहती हैं। उनका वह छटपटाना देखने का संयोग सबको सब समय नहीं मिलता पर जब कभी किसी को किसी कारण से वह सुयोग मिल जाता है, तब वह उसे जीवन भर नहीं भूल सकता। उनके अंतर के उस मूक विद्रोह को वाणी देने का निश्चय मैं बहुत पहले कर चुका था और अपने उस 'मिशन' को कार्यान्वित करने में मैंने कोई बात उठा नहीं रखी है।"

रवीन्द्रनाथ ने एक बार अपने एक लेख में शरत्चंद्र पर परोक्ष रूप से छींटे कसते हुए लिखा था कि कला विशुद्ध आनंदमूलक सौन्दर्य से संबंध रखती है; उसका निवास चीतपुर की गंदी गलियों में नहीं, बल्कि वाणी के अकलुष मंदिर में है। मैंने शरत्चंद्र के आगे उसका उल्लेख करते हुए पूछा कि इस संबंध में उनकी क्या राय है।

उन्होंने कहा—"उस लेख में किसी अज्ञात कारण से रवीन्द्रनाथ

उलझ गये हैं; नहीं तो उनके समान महान द्रष्टा कला के क्षेत्र और उद्देश्य की व्यापकता के संबंध में अपरिचित हो, ऐसा मैं नहीं मानता। इस लेख में उन्होंने स्वयं अपनी पिछली बातों का खंडन किया है। वह आनंद-मूलक सौन्दर्य के कवि रहे हैं और हैं, इसमें संदेह नहीं, पर साथ ही दुःख-दैन्य, अभाव-शोषण और अत्याचार से पीड़ित जीवन के कठोर वास्तविक पहलू की उपेक्षा उन्होंने कभी नहीं की है। जिस कवि ने अपनी एक कविता में वेश्याओं और दूसरी पतिता रमणियों को सती-शिरोमणि माना हो और अपनी 'पतिता'* शीर्षक कविता में एक वेश्या के अंतर में निहित देवत्व को अत्यंत मार्मिक सुन्दरता से प्रस्फुटित किया हो, वह आज यह कहे कि चीतपुर की गंदी गलियों से कला का कोई संबंध नहीं है, इससे स्वभावतः यह संदेह होता है कि उनके इस लेख के पीछे कोई रहस्यमय कारण छिपा है! वह कारण व्यक्तिगत भी हो सकता है।"

मैं पूछना चाहता था कि "व्यक्तिगत किस रूप में?" पर कहीं पहले ही दिन की मुलाकात में कोई अप्रिय प्रसंग न चल जाय इस आशंका से मैं चुप लगा गया।

---

*उस कविता की कुछ पंक्तियों का अनुवाद नीचे दिया जाता है—

'स्वर्ग लोक में न जाने कितनी ऐसी पतिव्रताएँ वास करती हैं, जिनकी कथाएँ पुराणों में अमर रूप में वर्तमान हैं। उनके अतिरिक्त और भी लाखों अज्ञातनाम्नी, ख्यातिहीना, कीर्तिहीना सतियाँ रही हैं। उन्हीं सतियों के बीच में पतिता रमणियाँ भी विराज रही हैं, जो मर्त्य में कलंकिनी हैं, पर स्वर्ग में सती-शिरोमणि मानी जाती हैं। उन्हें देखकर सतीत्व के गर्व से गर्विणी स्त्रियाँ लज्जा से सिर झुका लेती हैं। उनकी महिमा तुम क्या समझोगे? केवल अंतर्यामी ही उनके सतीत्व की महिमा से परिचित हैं।'

मैंने पूछा—"भारतीय नारी के सतीत्व के आदर्श के संबंध में आपके क्या विचार हैं ?"

उन्होंने जो उत्तर दिया था उसका भाव इस प्रकार है—"मैं मानवधर्म को सतीधर्म के बहुत ऊपर स्थान देता हूँ, सतीत्व और नारीत्व ये दोनों आदर्श समान नहीं हैं। नारी-हृदय की मंगलमयी करुणा—उसकी जन्म-जात मातृवेदना—उसके सतीत्व से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। बहुत-सी स्त्रियाँ मैंने ऐसी देखी हैं जिनका किसी दूसरे पुरुष से कभी किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक संबंध नहीं रहा है, तथापि उनके स्वभाव में अत्यंत नीचता, घोर संकीर्णता, विद्वेष-भावना और चौरवृत्ति पाई गई है। इसके विपरीत ऐसी पतिताओं से मेरा परिचय रहा है जिनके भीतर मैंने मातृ-हृदय की निःस्वार्थ ममता और करुणा का अथाह सागर उमड़ा हुआ पाया है।"

मैंने फिर प्रश्न किया—"यदि यही बात है, तो आपने श्रीकांत में अन्नदा दीदी के सतीत्व की महिमा ऐसे जोरदार शब्दों में क्यों वर्णित की है कि उसके दीप्त प्रकाश के आगे आपके दूसरे नारी-चरित्र म्लान पड़ जाते हैं ?"

इस बात पर शरत्चंद्र मंद-मंद मुस्कुराये और बोले—"आपकी यह बात मैं मानता हूँ! अन्नदा दीदी के प्रति वास्तव में मेरी भी आंतरिक श्रद्धा रही है। मेरे जन्मगत संस्कार आखिर भारतीय ही हैं। फिर भी मैं इतना बता देना चाहता हूँ कि उसके एकनिष्ठ पातिव्रत धर्म ने मेरी श्रद्धा उतनी नहीं उभाड़ी है, जितनी उसकी प्रेमप्लावित आत्मा के मुक्त प्रवाह ने।"

सहसा मैं चंचल बाल-प्रवृत्ति से प्रेरित होकर एक दुस्साहसिकतापूर्ण प्रश्न कर बैठा। मैंने पूछा—"क्या श्रीकांत के

माध्यम से आपने स्वयं अपना ही चरित्र वर्णित नहीं किया है ?"

हुक्के की सटक मुँह से निकालकर शरत्चंद्र ने कहा—"यही प्रश्न मुझसे और भी बहुत से लोग कर चुके हैं। पर वास्तव में लोगों की यह धारणा गलत है। यह ठीक है कि 'श्रीकान्त' में जीवन के उन्हीं रूपों का वर्णन मैंने किया है जिनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय है और उन्हीं चरित्रों को मैंने लिया है जिनका अध्ययन निकट से करने का अवसर मुझे मिला है। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह मेरा आत्मचरित है। फिर भी मुझे लोगों की यह धारणा जानकर प्रसन्नता ही होती है, क्योंकि उससे यह प्रमाणित होता है कि मेरे पात्र पाठकों को सजीव लगते हैं और मेरा जीवन-वर्णन और चरित्रांकण यथार्थ जीवन के बहुत निकट है।"

इतने में नौकर दो प्याले चाय दे गया, जिसके लिये शरत्चंद्र पहले ही आर्डर दे चुके थे। एक घूंट पीकर मैंने पूछा—"क्या आपका यह मत है कि औपन्यासिक यथार्थ जीवन के यथार्थ का अविकल प्रतिबिंब होना चाहिये ?"

"नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता। जो अति-यथार्थवादी लेखक उपन्यास या कहानी को वास्तविक जीवन के अविकल फोटो के रूप में प्रस्तुत करने को बहुत बड़ी कला मानते हैं, मेरा उनसे मतभेद है। वह तो वैसी ही कला हो गई जिस तरह फोटोग्राफी भी एक कला है। तब फोटोग्राफर में और जीवन के द्रष्टा में अन्तर ही क्या रह गया! यह ठीक है कि जीवन के सच्चे रूप को चित्रित करना प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार का कर्त्तव्य है पर नग्नता को केवल नग्नता के लिए प्रदर्शित करने तक ही कलाकार का कर्त्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। नग्नता से छिद्रान्वेषी सुधारवादियों की तरह कतराना आवश्यक है, यह मैं मानता हूँ,

इसलिये सच्चा कलाकार जीवन की नग्नता का सही-सही आभास देने के उद्देश्य से रूढ़ यथार्थ को एक कारीगर की तरह तराश-तराश कर कलात्मक रूप में पाठकों के आगे रखता है और इस पर आदर्श की रंगीनी चढ़ाकर एक अभिनव समन्वयात्मक कला-कृति प्रस्तुत करता है।"

इस पर मैंने रूसी कलाकारों की प्रशंसा की। उन दिनों मैं चेखोव से विशेष प्रभावित था। मैंने कहा कि "ऐसा सच्चा कलाकार मैंने अभी तक कोई दूसरा नहीं पाया। चेखोव के कथा-चित्र सीधे जीवन से लिये गये हैं। मध्यवर्गीय और निम्नमध्यवर्गीय जीवन की विपन्नता और विकृतियों का ऐसा सच्चा और मार्मिक चित्रण अन्यत्र नहीं पाया जाता। चेखोव ने अपनी कहानियों में कहीं भी अपने आदर्शमूलक विचारों को ठूँसने का प्रयत्न नहीं किया है और न किसी नीति पर पहुँचने का ही। किंतु उसने अपने चित्रों को जिस प्रकार के रंगों में रँगा है, वे ऐसे सच्चे हैं कि अपने आदर्शों को अपने साथ ठीक उसी प्रकार वहन करते हुए चले जाते हैं जिस प्रकार तिल तेल को, मधु मिठास को और कुसुम गंध को।"

शरत्चंद्र ने मेरी बात का समर्थन किया पर साथ ही कहा—"भारतीय सत्य का आदर्श कुछ दूसरा ही है। निरर्थक सत्य को हमारे यहाँ कभी महत्त्व नहीं दिया गया। हमारे यहाँ कला में कल्याण और मंगल की भावना को सदा प्रमुख स्थान दिया गया है; इसलिए जिस कलात्मक सत्य की पृष्ठभूमि में वह भावना न हो उसके प्रति कभी मेरे मन में आदर का भाव नहीं रहा है। मैंने कला को कभी क्रीड़ा-कौतुक के रूप में नहीं देखा है, मैं उसे मनुष्य के जीवन की चरम साधना के रूप में मानता हूँ।"

इसके बाद कुछ क्षणों तक हमलोग चुप रहे। शरत्चंद्र लंबी कशें खींचते हुए हुक्का गुड़गुड़ाते चले गये। वातावरण काफी गंभीर बन गया था। वास्तव में मैं इतने गंभीर विषयों—कला संबंधी निगूढ़ तत्त्वों—की आलोचना के उद्देश्य से उनके पास नहीं गया था।

कुछ खाँसकर विषय को बदलने और वातावरण को हलका करने के उद्देश्य से मैंने पूछा—"आपने सबसे पहले अपनी किस रचना से ख्याति पाई?"

"सबसे पहले मेरी 'रामेर सुमति' शीर्षक कहानी 'यमुना' नाम की एक अत्यंत साधारण पत्रिका में छपी। वह नई निकली थी और तब उसके केवल पचास ग्राहक थे। मेरी कहानी लोगों को इतनी पसंद आई कि दूसरे ही महीने उसके पाँच सौ ग्राहक हो गये।"

शरत्चंद्र ने परिहास के स्वर में कहा—"इस प्रकार मैं बायरन की तरह एक विशेष रात में सोकर जब उठा तब अपने को मैंने प्रसिद्ध हुआ पाया!"

और उसके बाद उनका कुछ ऐसा 'मूड' जगा कि मेरे बिना कुछ पूछे ही अपने उपन्यासकार के जीवन से संबंधित घटनाओं को एक-एक करके बताते चले गये। उन्होंने बताया कि छोटी उम्र से ही जब वह भागलपुर में पढ़ते थे, तभी से वह कहानियाँ और उपन्यास लिखने लगे थे। पर कभी अपनी कोई रचना उन्होंने छपाई नहीं—उन्हें छपाने से कोई लाभ होगा ऐसा विश्वास उन्हें नहीं था। जनता उन्हें ठीक रूप में ग्रहण करेगी या नहीं, इस संबंध में वह काफी संदेह में थे, इसलिए वर्षों तक उनकी वे रचनाएँ अप्रकाशित पड़ी रहीं। बाद में जब वह एक 'आवारा' की हैसियत से बर्मा गये तो वहाँ भी वह कुछ-न-कुछ

लिखते चले गये, पर कभी किसी प्रकाशक से कोई बातचीत उन्होंने नहीं चलाई। अंत में एक दिन मकान में आग लग जाने से उनकी अधिकांश अप्रकाशित रचनाएँ जलकर नष्ट हो गईं। जो दो-एक रचनाएँ नष्ट होने से बच गईं, उनमें, 'देवदास' भी एक था। बर्मा में ही उन्होंने अपना विख्यात उपन्यास 'चरित्रहीन' लिखना आरंभ कर दिया था। अपने एक विशेष मित्र के अत्यधिक आग्रह से उन्होंने उसे 'भारतवर्ष' नाम की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशनार्थ भेज दिया। पर उसे 'अनीतिमूलक' समझकर 'भारतवर्ष' के तत्कालीन संपादक ने उसे न छापा। बाद में 'चरित्रहीन' भी 'यमुना' में ही धारावाहिक रूप से छपने लगा।

बर्मा में दीर्घ प्रवास के बाद जब आपने आफिस के साहब से झगड़कर नौकरी छोड़ वह कलकत्ते चले आये तब 'भारतवर्ष' से उन्हें १०० रु० मासिक का 'ऑफर' मिला—सहकारी के रूप में काम करने के लिए। उन्होंने मुझे बताया कि वह बहुत प्रसन्न हो गये, क्योंकि १०० रु० में वह अपनी गुजर मजे में कर लेते थे और उस से अधिक कोई आकांक्षा तब उन्हें नहीं थी। उसके बाद 'भारतवर्ष' के प्रकाशक ने ही उनकी दो पुस्तकें—'बिन्दुर छेले' और 'विराज बऊ' छापीं। दोनों का स्वत्वाधिकार एक प्रकार से प्रकाशक के ही अधीन था। शरत्चंद्र ने बताया कि जब उन पुस्तकों की बिक्री बहुत अच्छी हुई तब उन्होंने कुछ मित्रों के सुझाव से अपनी नई पुस्तकों को स्वयं अपने ही खर्चे से छपाना शुरू कर दिया। बेचने का अधिकार अपने पूर्व प्रकाशक को ही कमीशन के आधार पर दे दिया। इस प्रकार उन्हें बहुत लाभ होने लगा। जब मैं उनसे पहली बार (मार्च १९२२ में) मिला था तब उन्हें प्रायः ६,००० रु० साल अपनी

तब तक की स्वयं प्रकाशित पुस्तकों से मिलने लगा था। उस समय के भारतीय लेखकों की दशा को ध्यान में रखते हुए यह बहुत अच्छी रकम थी। शरत्चंद्र ने मुझसे कहा कि तब उनकी समझ ही में नहीं आता था कि उतने 'अधिक रुपयों' से वह क्या करें? वह बराबर 'आवारा' जीवन बिताने के आदी थे—नौकरी करके सौ पचास रुपया माहवार कमाकर, उतने से ही गुजर करके वह प्रसन्न रहते थे। अब 'इतना अधिक' रुपया कमाने पर उन्हें पूरा संसारी बनना पड़ा। वैसे कुछ वर्ष पूर्व वह कलकत्ता आकर जमने के पहले बर्मा में ही विवाह कर चुके थे, इसलिये उन्हें अब बाकायदा 'संसारी' (बंगला में जिसका अर्थ गृहस्थ होता है) बनना आवश्यक भी था। मेरा खयाल था कि वह अविवाहित हैं। यह धारणा मेरे मन में क्यों बन गई, मैं कह नहीं सकता। उनके उपन्यासों के ढर्रे में कोई बात ऐसी अवश्य थी जिससे लगता था कि उनका लेखक कभी विवाहित जीवन के बंधन में नहीं बँधना चाहेगा। मैंने दूसरी बार मिलने पर शरत्चन्द्र के आगे अपनी इस लड़कपन की धारणा को प्रश्न के रूप में प्रकट कर ही दिया। वह स्नेहपूर्वक मुस्कुराते हुए बोले—"आपकी यह धारणा ठीक ही उतरती, पर एक चक्कर ऐसा आया कि मैं वैवाहिक बंधन में बंध ही गया।" मुझे उनका 'आप' संबोधित करना बहुत अखर रहा था। पर कुछ ही दिनों बाद वह मुझे स्नेहवश 'तुम' कहकर संबोधित करने लगे थे।

जो भी हो, ६,००० रु० साल पाकर वह आर्थिक दृष्टि से अपने को बहुत स्वच्छंद मानने लगे। उसके बाद—शरत्चंद्र ने बताया—एक दिन 'वसुमती' वाले उनके पास आये और उन्होंने उनके आगे यह प्रस्ताव रखा कि वे उनकी सभी पुस्तकों

का सस्ता संस्करण चार-पाँच ग्रंथावलियों के रूप में निकालना चाहते हैं और उन सबके लिये वे उन्हें सालाना ८,००० रु० देंगे। "इस प्रस्ताव से मैं बड़े असमंजस में पड़ गया," शरत्चंद्र ने मुझ से कहा, "क्योंकि यह तो मुझे बिलकुल स्पष्ट लगा कि मेरी पुस्तकों का सस्ता संस्करण छप जाने पर फिर उन पुस्तकों की बिक्री न हो सकेगी जिन्हें मैं स्वयं छापता था, और जिनसे मुझे ६,००० रु० सालाना आमदनी होती थी, पर चूँकि वसुमतीवाले २,००० रु० अधिक दे रहे थे, इसलिए कुछ सोच-विचार के बाद राजी हो गया। पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब साल के अंत में मैंने देखा, मेरे अपने प्रकाशन से ६,००० रु० में एक कौड़ी की भी कमी नहीं हुई और उधर से ८,००० रु० और मिलने लगा! इस प्रकार अब मुझे साल में १४,००० रु० की आमदनी होती है! अब मेरे पास बहुत रुपया हो गया है! और यह 'बहुत' भी इस हालत में जब वह बैंक जिसमें मेरे रुपये जमा थे (एलायन्स बैंक आफ शिमला लिमिटेड) फेल हो गया है और करीब ५० प्रतिशत रुपया ही अब जमा करनेवालों को मिला है!" (वह ५० प्रतिशत भी इसलिये मिल पाया था कि उसमें जमा करनेवालों में अंगरेजों की संख्या बहुत अधिक थी और सरकार ने बैंक की सहायता की थी।) मैं तब यद्यपि लड़का ही था, और जीवन के आर्थिक पहलू के महत्त्व से परिचित नहीं था, तथापि शरत्चंद्र के संतोष पर मुग्ध होने के साथ ही मुझे हँसी भी आई और रुलाई भी। क्योंकि इतना तो मुझ जैसा अनुभवहीन व्यक्ति भी जानता था कि कलकत्ता शहर में ही बहुत से ऐसे 'निरक्षर भट्टाचार्य' पड़े हुए हैं जो एक ही दिन में १४,००० रु० से अधिक कमा लेते हैं और तब भी संतुष्ट नहीं रहते, जबकि

इतना बड़ा 'मनीषी' १४,००० रु० साल पाकर उसे 'बहुत अधिक' मानता है। पाश्चात्य देशों के लेखकों की आय से भी मैं पुस्तकों और सामयिक पत्रों के ज़रिये थोड़ा-बहुत परिचित था। अपने उपास्य लेखक के प्रति श्रद्धा और देश की दयनीय आर्थिक और सांस्कृतिक दशा के ख्याल से मेरे भीतर ही भीतर आँसू उमड़ उठे, और संभवतः बाहर आँखों में भी चमकने लगे। तब मैं बहुत अधिक भावुक था।

पहले ही परिचय से मेरे समान एक अदने लड़के को शरत्चंद्र ने अपने व्यक्तिगत जीवन की इतनी अधिक बातें ऐसे प्रेम से बताईं जैसे मेरा बरसों से उनसे परिचय हो और मैं उनका समवयस्क भी होऊँ। मेरे साहित्य-संबंधी प्रत्येक प्रश्न के उत्तर भी उन्होंने ऐसी गंभीरता से दिये कि मुझे यह अनुभव ही नहीं होने दिया कि मैं एक नासमझ छोकरा हूँ। दो घंटे से भी अधिक समय तक मैं उनका मूल्यवान समय नष्ट करता हुआ बैठा रहा, और जब उठने लगा तब भी उन्होंने कहा—"कुछ देर और बैठिये, एक प्याला चाय और पीजिये!" उनकी उदारता के बोझ से मैं इतना अधिक दब चुका था कि बैठने की इच्छा होने पर भी मैं उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़ कर क्षमा माँगता हुआ जाने लगा।

"फिर कभी मिलियेगा!" बड़ी ही मीठी वाणी में उन्होंने कहा।

"अवश्य, मैं अपनी ही गरज से आऊँगा।" कहकर मैंने हाथ जोड़े और लौटते हुए मन के भीतर ही उस मनीषी को परिपूर्ण श्रद्धा से प्रणाम किया जिसके सहृदय स्वभाव की सरलता पर मैं अपना सब कुछ (हालाँकि तब मैं भीतर और बाहर दोनों तरफ से अकिंचन था) वारने को तैयार था।

२

दूसरे दिन जब मैं शरत्चंद्र के यहाँ पहुँचा, तब वह तन्मय भाव से एक पुस्तक पढ़ रहे थे। मैं सीधे उनके बैठक के कमरे में चला गया था। बाहर से दरवाजा खटखटाने, नौकर से पूछने या नौकर के न दिखाई देने पर बाहर खड़े रहने की कोई आवश्यकता ही मुझे नहीं महसूस हुई। मुझे मेरे मित्रगण आज भी अव्यावहारिक बताते हैं, पर तब की बात जब मैं सोचता हूँ तब अपनी अव्यावहारिकता के चरम निर्देशनों की याद से आज भी संकुचित हो उठता हूँ। तब मेरे दिमाग में यह बात ही नहीं आई कि इतने बड़े और प्रसिद्ध लेखक, जिनसे मेरा केवल एक दिन का परिचय है, अपने घर के भीतर बीस तरह के कामों में व्यस्त हो सकते हैं और इस विशेष क्षण में किसी अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना में तल्लीन हो सकते हैं, इसलिये बिना पता लगाये या नौकर से अपने आने की सूचना दिलाये ही सीधे उनके अध्ययन के कमरे में घुस जाने के बराबर अशिष्टता और अव्यावहारिकता दूसरी नहीं हो सकती। उस समय तो मेरे अंतर में यह विश्वास जमा हुआ था कि एक ही दिन के परिचय में उस महान् लेखक ने जिस स्नेह और सौहार्द्र का परिचय मुझे दिया है, उससे मैं निश्चित रूप से इस बात का अधिकारी सिद्ध हो जाता हूँ कि जब चाहूँ तब बिना पूछे ही उनके कमरे में घुस सकता हूँ।

जो भी हो, जब उस निश्चित विश्वास के साथ मैंने उनके बैठक के कमरे में (जो उनका 'स्टडी रूम' भी था) प्रवेश किया

तब उन्हें एक पुस्तक में तन्मय देखकर मैंने उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से कहा, "नमस्कार! यह कौन-सी पुस्तक है जिसे आप इस प्रकार तन्मय भाव से पढ़ रहे हैं?" बिना तनिक भी संकोच के मैंने यह प्रश्न किया। मुझ जैसा संकोची आदमी एक ही दिन के परिचय के बाद उनसे इस प्रकार की ढिठाई से भरा प्रश्न कैसे कर सका, इस बात पर मुझे स्वयं भी आश्चर्य हो रहा था। आज मैं जानता हूँ कि यह उनके स्वभाव की महान् उदारता का ही परिणाम था कि मैं इस कदर दुस्साहस कर सका।

उन्होंने आँखों की पुतलियों को पढ़ने के चश्मे के ऊपर घुमाकर मेरी ओर देखा और बोले—"आइये, बैठिये!" उसके बाद चश्मा उतार कर मेज पर रख दिया और खुली हुई पुस्तक को औंधा करके रख दिया। मैं सामनेवाली कुर्सी पर बैठ गया। कवर पर छपे नाम पर मेरी नजर गई। वह था गोर्की का विश्व-विख्यात उपन्यास 'मदर'। मेरे हाथ में काले कपड़े में बँधी हुई रवींद्र की 'चयनिका' थी। उसे मेज के एक किनारे पर रखकर मैं भी इतमीनान से बैठ गया।

"बहुत बड़ा लेखक है यह गोर्की," उन्होंने हुक्का गुड़गुड़ाते हुए आवेश के साथ कहा। तब तक मैं दूसरे रूसी लेखकों की रचनाएँ पढ़ चुका था, पर गोर्की की कोई रचना मैंने नहीं पढ़ी थी—हालाँकि पढ़ने का इरादा कई दिनों से कर रहा था।

मैंने कहा, "मुझे तो रूसी लेखकों में डास्टाएव्स्की सबसे बड़ा उपन्यासकार लगता है। उसमें बाहरी जीवन के पर्यवेक्षण की बारीकी के साथ मनुष्य के अंतरतल में डूबकर उसके स्तर-प्रतिस्तर के सूक्ष्म विश्लेषण करने और उस पंक के मथन से

मानवत्व के कमल को परिस्फुट करने की जो क्षमता वर्तमान है, वह मुझे आश्चर्यजनक लगती है।"

"यह ठीक है, पर गोर्की की रचनाएँ पढ़ने के बाद मुझे लगता है कि जीवन की जैसी पकड़ उसमें है वैसी न डास्टाएव्सकी की रचनाओं में पाई जाती है न कहीं और। आपने पढ़ी है गोर्की की कोई रचना?"

"जी नहीं, अभी तक नहीं पढ़ पाया। पर आपकी बात सुनने के बाद पढ़ने की तीव्र इच्छा हो रही है, आप ही सुझा दें कि पहले कहाँ से शुरू करूँ?"

"उसका 'क्रीचर्स दैट वन्स वेर म्यान' नामक एक कहानी-संग्रह अभी हाल में अंगरेजी में अनुवादित होकर मार्केट में आया है। पहले उसे पढ़ डालिये। उसमें आप जीवन के प्रति एक बिलकुल नया दृष्टिकोण, नई भावधारा, नई शैली और नया ही टेकनीक पायगे। गोर्की मानवता के प्रति एक बिलकुल ही नया संदेश लेकर आगे बढ़ा चला जाता है। उसे न पढ़ने से आप जीवन के एक बहुत बड़े पहलू की जानकारी से वंचित रह जायँगे।"

"ठीक है," मैंने कहा, "मैं आज ही शाम को वह पुस्तक खरीद लूँगा और पढ़ूँगा। पर डास्टाएव्सकी के संबंध में आपकी क्या धारणा है, यह मैं जानना चाहता हूँ।"

"डास्टाएव्सकी भी निःसंदेह बहुत बड़ा लेखक है—इतना बड़ा कि उसकी ऊँचाई, गहराई और विस्तार तक पहुँच सकने वाला कोई दूसरा आधुनिक लेखक मेरे ध्यान में नहीं आता। यह सब [illegible] जीवन के [illegible] और सहज भाव से नहीं [illegible] कि गोर्की बिना किसी हेर-फेर के सीधे जीवन [illegible] है। इसलिये मैं गोर्की को बड़ा मानता हूँ।"

मुझे तब भी यह विश्वास था और आज भी है कि शरत्‌चंद्र पर डास्टाएव्स्की का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था, विशेष कर पतित नर-नारियों के संबंध में उनका जो दृष्टिकोण था उसकी प्रेरणा में डास्टाएव्स्की का भी बहुत बड़ा हाथ रहा। पर तब—१९ २ में—वह पतित नरनारियों से संबंधित रचनाओं का युग पार कर चुके थे और अपने रचना-काल के तीसरे चरण में प्रवेश कर रहे थे। 'पथेर दावी' के कुछ परिच्छेद वह लिख चुके थे और अब वह उसे एक नया मोड़ देना चाहते थे। इसलिये अब गोर्की उन पर बड़े जोरों से हावी हो रहा था।

मैंने तब उस बहस को आगे नहीं बढ़ाया। इसका एक कारण तो स्पष्ट ही यह था कि तब तक मैंने गोर्की की कोई चीज पढ़ी ही नहीं थी, और दूसरा कारण यह था कि मैं उन पर डास्टाएव्स्की के प्रभाव की चर्चा चलाकर उनका गोर्की संबंधी 'मूड' खराब नहीं करना चाहता था। इसलिये मैंने एक बीच का प्रश्न खड़ा किया। मैंने कहा, "प्रायः सभी श्रेष्ठ रूसी उपन्यासों में जीवन के जिस प्रचंड हाहाकार, जिस प्रबल भूकंपीय कंपन और तूफानी आंदोलन का वर्णन पाया जाता है और कठोर संघर्षमय यथार्थ जीवन के भीतर उत्पन्न होने वाले जिन भीषण अंतस्फोटों का सजीव और मार्मिक चित्रण पाया जाता है, भारतीय उपन्यासों में वैसा क्यों नहीं मिलता? क्या जीवन के गहरे, तीखे और व्यापक अनुभवों के संबंध में यहाँ के लेखकों की कमी इसका एक कारण नहीं है?"

"कम से कम यह कारण तो नहीं ही है," उन्होंने [illegible] भाव से उत्तर दिया, "क्योंकि जीवन के जो अनुभव मैंने प्राप्त किये हैं वे अपनी [illegible] और [illegible] में किसी भी रूसी लेखक के अनुभवों से कुछ कम नहीं हैं। मैंने समाज की हीनतम

परिस्थितियों में रहनेवाले लोगों के बीच में उन्हीं में से एक बनकर जीवन बिताया है; जरायमपेशा लोगों के साथ मैं रह चुका हूँ और उनके जीवन का अध्ययन मैंने बहुत निकट से किया है; निम्नमध्यवर्गीय ग्रामीण समाज के प्रति दिन के जीवन के सुख-दुःख में मैं शरीक रहा हूँ; जिन पतिता नायिकाओं और चरित्रहीन नायकों का चित्रण मैंने अपनी रचनाओं में किया है वे मेरी कोरी कल्पना की उपज नहीं हैं। इस तरह के स्त्री-पुरुषों के संपर्क में मैं रहा हूँ। यह सही है कि उनके जीवन की यथार्थता का नंगा चित्र न खींचकर मैंने उन्हें 'आइडियेलाइज' किया है—पर वह अनुभव की कमी के कारण नहीं, अपने भीतरी विश्वास और कला के उद्देश्य के संबंध में अपनी निजी धारणा के कारण। तरह-तरह के आवारा लोगों के साथ मेरी घनिष्ठता रही है। छोटी-छोटी 'भूलों' के कारण समाज से बहिष्कृत स्त्री-पुरुषों के लांछित और उपेक्षित जीवन से मेरा निकटतम परिचय रहा है, किसानों और मजूरों के जीवन के संबंध में प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने के अलावा मदारियों, सँपेरों, नटों, बहुरूपियों, नागा या अधनंगे साधु-सन्यासियों के साथ मैं जीवन बिता चुका हूँ। गरज यह कि जीवन के किसी भी क्षेत्र के अनुभवों से मैं वंचित नहीं हूँ। फिर भी यदि मेरी रचनाओं में जीवन के प्रचंड हाहाकार और भूकंपी विस्फोटों का चित्रण आपको नहीं मिलता तो उसका कारण कहीं और खोजना होगा। इस देश की सांस्कृतिक और सामाजिक परंपराएँ कुछ ऐसी रही हैं जो जीवन की कठोर यथार्थता को झकझोर कर, उसमें से कटु सत्यों को बटोर कर उन कटु सत्यों के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा आदर्शात्मक सत्यों की स्थापना पर जोर नहीं देतीं। यहाँ कटु यथार्थ को भरसक दबाकर, उसे पृष्ठभूमि में—नेपथ्य में—

रखकर, उस वास्तविकता के भीतर दूध में मक्खन की तरह निहित उन्नत आदर्शों को रंगमंच के खुले प्रकाश में रखने की परंपरा प्रचलित रही है। पाश्चात्य देशों के और यहाँ के दृष्टिकोणों का यह अंतर कालिदास और शेक्सपीयर के नाटकों और काव्यों की तुलना से स्पष्ट हो जायगा। शेक्सपीयर के नाटकों में पात्रों के जीवन के भीतर और बाहर जो भीषण तूफानी बादल उमड़ते रहते हैं, हिंसा-प्रतिहिंसा के जो भयावने चक्कर चलते रहते हैं, ज्वालामुखियों के-से जो विस्फोट और भूकंपों के-से जो आंदोलन मचते रहते हैं वे कालिदास की दुनिया के लिए एकदम विजातीय हैं। कालिदास ने केवल करुण और कोमल, शांत और स्निग्ध जीवन के चित्रों को रंगमंच की अग्रभूमि पर रखा है। 'अभिज्ञान शाकुंतल' की तुलना 'हैमलेट', 'ओथेलो' या 'मैकबेथ' से करने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी। कालिदास ने दुष्यंत की नीचता और हीनता को पृष्ठभूमि में रखा है, उसकी त्रुटियों और कमजोरियों पर ऐसे काव्यात्मक रंग चढ़ाये हैं जो उसकी उन्नत प्रवृत्तियों को और अधिक उभार में रखते हैं। शकुंतला के विद्रोह को कवि ने केवल छिटफुट उद्गारों और इंगितों द्वारा व्यक्त किया है। सारे नाटक में आदि से अंत तक एक शांत कोमल, करुण और स्निग्ध वातावरण छाया रहता है। स्थान-स्थान में तूफानी बादल उमड़ते-उमड़ते रह जाते हैं, विस्फोट होते-होते दब जाता है। इसके विपरीत शेक्सपीयर के नाटकों में सर्वत्र भीतर और बाहर—तर्जन-गर्जन, संघर्ष-विघर्ष, विद्रोह और विस्फोट, आँधी और तूफान का जोर रहता है। जीवन के ये दोनों रूप सत्य हैं, दोनों पहलू महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी कालिदास की कला अधिक कठिन है। किसी व्यक्ति के चरित्र-चित्रण या किसी विशेष परिस्थिति के वर्णन के लिए

सिले में जितने भी भाव किसी कवि, नाटककार या उपन्यासकार के भीतर उमड़ते हैं उन सबको उगल देना उतना कठिन नहीं है, जितना उन सबको संयत करके, उन्हें दबा कर केवल इंगितों और आभासों द्वारा गहरा असर पैदा करना। कालिदास ने इसी संयमवाली कला को अपनाया था। इसी लेखक उस शैली से प्रभावित हुए हैं जिसे शेक्सपीयर से लेकर अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के सुप्रसिद्ध पाश्चात्य-कलाकारों ने अपनाया था। उसका भी अपना महत्त्व है, पर मैं कालिदास की कला का ही कायल हूँ। जीवन के कटु और कठोर सत्य के पूर्ण और सर्वांगीण चित्रण के बिना भी सुंदर कलात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है और साथ ही उस महत्त्वपूर्ण सत्य की उपलब्धि भी हो सकती है जो सभी बड़े कलाकारों को अभीष्ट रहा है...... ”

इस संबंध में मेरा सुस्पष्ट मतभेद था। मैं तब भी कालिदास का बहुत बड़ा प्रशंसक था और आज भी हूँ। प्रशंसक ही नहीं, मैं बराबर कालिदास का बहुत प्रेमी पाठक रहा हूँ। पर बीसवीं शताब्दी में भी, जबकि यथार्थ जीवन के कठोर सत्य की चेतना मानव-मन में अत्यंत निविड़ रूप से घनीभूत हो उठी है, उसी तथाकथित संयमवाली कला पर जोर देना, मेरे मत से, जीवन की सच्चाई से कतराना है। मैं प्रारंभ ही से उस कला का उपासक रहा हूँ जो जीवन की गहराई में पैठकर परंपरागत बूर्ज़ुवा संस्कारों के निर्मित झूठे आवरणों को पर्दा-दर-पर्दा चीरकर उनके भीतर ढके हुए नग्न सत्य को बाहर निकालती है और उस नग्न सत्य को जीवन की यथार्थता के बीच में लाकर यथार्थवादी उपायों द्वारा एक ऐसे आदर्श की ओर उन्मुख करती है जो यथार्थ पर ही आधारित है। इसके लिए जीवन की उन जटिल [illegible] परिस्थितियों

की अवतारणा आवश्यक है जिन्हें शेक्सपीयर से लेकर डास्टाएव्सकी तक ने अपनाया है, और साथ ही उन भीतरी और बाहरी परिस्थितियों के सूक्ष्मतम विश्लेषण का भी बहुत बड़ा महत्त्व है।

मैंने शरत्चन्द्र के आगे अपना यही मत प्रकट किया। साथ ही उनका ध्यान इस बात की ओर भी आकर्षित किया कि भारत में भी इस प्रकार की विराटवादी कला किसी जमाने में अपनाई जा चुकी है और इस संबंध में महाभारत का उल्लेख किया। मैंने कहा कि मैं महाभारत को कोई ऐतिहासिक महाकाव्य नहीं मानता हूँ। जिस महापुरुष ने इस विराट काव्य की रचना की उसने स्वयं एक परंपरा-प्रचलित बहुत पुरानी कहानी का केवल सूत्र पकड़ा था। उस सूत्र से उसने एक ऐसा ढाँचा तैयार किया जो उस महाकवि के स्वयं अपने युग के अस्त-व्यस्त और संघर्ष-मय जीवन के चित्रण के लिये 'फिट' बैठता था। उसने ऐसे पात्रों और पात्रियों की अवतारणा की जो अपने जटिल और गहन प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के द्वन्द्व में बुरी तरह उलझे हुए थे और उस उलझन से मुक्त होने के लिए जो आजीवन संघर्ष करते रहे। केवल उन पात्रों और पात्रियों के जीवन ही नहीं बल्कि, उस सारे युग की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ बहुत ही उलझी हुई और अस्त-व्यस्त थीं। पर महाभारतकार युग की उन उलझी हुई परिस्थितियों से कतराना नहीं चाहता था। उसने जानबूझकर, सचेष्ट और सक्रिय रूप से उन घोर यथार्थ और तूफानी परिस्थितियों की अवतारणा की और उस विराट पृष्ठभूमि में वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के ऐसे लोमहर्षक चित्रों, ऐसी जटिल किंतु गंभीर समस्याओं का उद्घाटन किया जो आज के जीवन में

भी सत्य उतरती हैं। और अंत में उन जटिल समस्याओं का समाधान यथार्थ पर आधारित आदर्शात्मक उपायों से किया। महाभारतकार ने जीवन के कठोर और कटु यथार्थ को किस तरह निरावरण रूप में उभारकर रखा है, इसका एक उदाहरण यह है कि उसने एकवस्त्रा रजस्वला द्रौपदी को नीच दुःशासन द्वारा बीच सभा में खड़ा करवाया। यदि वह कालिदासीय संयत कला का कायल होता तो उस चीर-हरण संबंधी घटना का इंगित मात्र देकर चुप लगा जाता। पर नहीं; उसने नारी जाति के ऊपर पुरुष जाति द्वारा किये जानेवाले अत्याचार के उस चरम प्रतीक को पूरे 'फोकस' पर उतारा है और उस घटना पर अत्यधिक महत्त्व आरोपित करके पूरे विस्तार से उसका वर्णन किया है। इसके पूर्व महाभारत के प्रधान नायक धर्मराज युधिष्ठिर का जुए के नशे में अंधा होकर अपनी पत्नी तक को दाँव में लगाने की घटना पर भी महाभारतकार ने पूरा प्रकाश डाला है, यह उसकी यथार्थवादिता का एक दूसरा लघु उदाहरण है। व्यक्तिगत और वंशगत हिंसा-प्रतिहिंसा और राग-द्वेष की परिणति सामूहिक हिंसा, विध्वंस और विनाश में दिखाने के उद्देश्य से उसने बीच में जिस व्यापक जीवन-संघर्ष, द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व, उत्थान-पतन, भीतरी और बाहरी चक्रों के घात-प्रतिघात का चित्रण किया है वह उस विराट कलात्मक प्रतिभा का चरम निदर्शन है जिसका एक अस्फुट स्वरूप हम शेक्सपीयर की समन्वित रचनाओं में पाते हैं। महाभारतकार की घोर यथार्थवादी और घनघोर जीवनवादी प्रवृत्ति का सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि कृष्ण जैसे मानव-जाति के महान नेता को, जो सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक प्रगति और सामूहिक शांति के प्रमुख आचार्य थे, उस युग की उलझी हुई राजनीतिक (राष्ट्रीय और अंतर-

राष्ट्रीय) समस्याओं का हल एकमात्र महायुद्ध—सामूहिक हिंसा—में ही दिखाई दिया। युद्ध के निवारण के लिए उन्होंने पूरी शक्ति से उद्योग किया; पर सफल न होने पर उन्होंने युद्ध की पूरी तैयारी के लिए जोर दिया। यह नहीं कहा कि "चाहे सारे महादेश में अत्याचारी कौरवों का एकच्छत्र राज हो जाय, पांडवों को चाहिए कि विश्व-शांति के रक्षार्थ युद्ध से विरत रहें और निपट दीनता का जीवन बिताते हुए संतोष कर लें।"

महाभारत की उक्त विशेषताएँ बताते हुए मैंने शरत्‌चंद्र से कहा कि मैं उक्त महाकाव्य को संसार का सबसे पहला यथार्थ-वादी उपन्यास मानता हूँ। शरत्‌चंद्र ने मेरी बातें बड़े ध्यान से सुनीं और इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि इतनी कच्ची उम्र में ही—तब मेरी उम्र प्रायः बीस वर्ष की रही होगी—मैं जीवन के ऐसे गंभीर और जटिल पहलुओं में रस लेने लगा हूँ। उन्होंने कहा, "मेरे पास जो भी नवयुवक आते हैं वे प्रायः सभी देवदास की दुनिया की सीमा के भीतर ही भूले-से लगते हैं। वे मेरे प्रशंसक होते ही केवल इस कारण हैं कि मैंने देवदास, पार्वती और उन्हीं की तरह के दूसरे पात्र-पात्रियों के विफल रोमांटिक प्रेम का चित्रण बड़ी ही मार्मिकता से किया है (जैसा कि वे बताते हैं)। आप मुझे पहले ऐसे नवयुवक मिले जो उपन्यासों में यथार्थ जीवन के गहन प्रश्नों की खोज करते हुए उनके आद-र्शात्मक हल में दिलचस्पी लेते दिखाई देते हैं। यह बात मैं किसी प्रशंसा की दृष्टि से नहीं कह रहा हूँ। क्योंकि मेरी राय में यह आप में एक 'एबनार्मल' प्रवृत्ति है जो आपको इस भरी जवानी में एक बहुत बड़े रस से वंचित कर सकती है। वह रस है रोमांटिक रस। इस रस को उन लोगों ने बहुत [illegible] कर

रखा है जो प्रेमतत्व की गहराई के संबंध में बहुत ही छिछला दृष्टिकोण रखते हैं। मैं मानता हूँ कि रोमांटिक रस ही जीवन का मूल रस नहीं है। जीवन का क्षेत्र बहुत विस्तृत है; फिर भी यह रस किसी भी दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि उसके भीतर ऐसे बीज निहित हैं जो ठीक ढंग से पनपने पर अपनी शाखाओं और प्रशाखाओं को जीवन के विविध क्षेत्रों में विचित्र रूपों में फैला सकते हैं। सच तो यह है कि व्यापक दृष्टि से देखने पर जीवन का कोई भी क्षेत्र उससे छूटा नहीं लगेगा। इसलिये आपको इस संबंध में सावधान रहने की आवश्यकता है कि यह जो सहज स्वाभाविक रस है, जिसका अनुभव आप ही की उम्र में अधिक तीव्रता के साथ किया जा सकता है, कहीं आप जीवन की गहन गंभीर समस्याओं की जटिलता में उलझकर उसके प्रति एकदम उदासीन न हो जायँ......"

मैंने मंद-मंद मुस्कराते हुए कहा—"यदि ऐसी बात होती तो मैं आपकी रचनाओं के प्रति आकर्षित ही न होता। मेरा अपना ऐसा अनुमान है कि रोमांटिक रस मुझमें सूख नहीं रहा है बल्कि संभवतः और गहरा होता जा रहा है। जीवन के गहन-गंभीर प्रश्नों में मैं जो अभी दिलचस्पी लेने लगा हूँ उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि 'रोमांटिक रस' को मैं गहरे ही रूप में ग्रहण करना पसन्द करता हूँ, छिछले रूप में नहीं। देवदास की दुनिया को मैं जो गम्भीर रूप से ग्रहण नहीं कर पाता उसका भी कारण मुझे यही लगता है। देवदास और पार्वती के पारस्परिक प्रेम और उसकी प्रतिक्रिया को मैं एक हलके ढंग की भावुकता मानता हूँ, जिस पर केवल आपकी कलात्मक प्रतिभा ने एक गहरा रंग चढ़ा दिया है।"

"'देवदास' के संबंध में मैं आपकी बात से कुछ अंशों तक

सहमत हूँ। सच बात यह है कि यह उपन्यास मैंने तब लिखा था जब मेरी अवस्था केवल उन्नीस वर्ष की थी—हालाँकि वह छपा है कई वर्षों बाद······" हुक्का जोर से गुड़गुड़ाकर उससे अधिकाधिक धुआँ निकालने का प्रयत्न करते हुए शरत्चन्द्र ने कहा, पर धुआँ कुछ विशेष निकला नहीं। बहस के दौरान में हुक्का पीना वह भूल गये थे, और इस बीच चिलम ठंढी हो गई थी।

उन्होंने नौकर को पुकारा और चिलम को ताजा करने का आदेश दिया।

"यह कौन-सी पुस्तक आप लाये हैं?" मेज पर बहुत देर से उपेक्षित पड़ी हुई मेरी 'चयनिका' पर दृष्टि डालते हुए उन्होंने कहा। "जरा देखूँ···"

मेरे आगे यह स्पष्ट हो गया कि जो बहस चल रही थी उसे वह खतम करना चाहते हैं।

'चयनिका' खोलकर, दो-चार पृष्ठ उलटकर उन्होंने उसे रख दिया। फिर बोले, "आप रवीन्द्र की कविता के बहुत बड़े प्रेमी मालूम होते हैं, और यह स्वाभाविक भी है।"

"आपने यह अनुमान कैसे लगाया?" मैंने पूछा।

"इसमें कौन कठिनाई है! बहुत बढ़िया चमड़े में बँधी हुई पुस्तक को आप हाथ में लिये फिर रहे हैं, वही काफी प्रमाण है; फिर आपकी बातों के ढंग से भी यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि जीवन के बहुविध रूपों को पूर्णतया अपनाने वाले विराट कवि की कविता में आपको वह रस भरपूर मिलेगा जिसकी गहरी पिपासा आपके भीतर छिपी है।"

मैंने पुलकित होकर कहा, "मैं आजकल प्रतिदिन उनकी कविता का पाठ करता हूँ।"

"यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, मैं स्वयं प्रतिदिन नहीं तो हर तीसरे-चौथे रोज उनकी कोई कविता-पुस्तक लेकर बैठ जाता हूँ। इतना बड़ा कवि आज संसार में खोजे न मिलेगा।"

"आप क्या उनकी प्रत्येक कविता का अर्थ आसानी से समझ लेते हैं ?" अपनी ढिठाई पर तनिक भी लज्जित न होकर मैंने पूछा। यदि सच पूछा जाय, तो मैं केवल इसी एक प्रश्न के उद्देश्य से 'चयनिका' को अपने साथ लेता गया था। रवीन्द्र की संपूर्ण कविताओं का अध्ययन मैंने अकेले ही किया था। एक भी गुरु मुझे नहीं मिला था और यदि कोई गुरु मिला भी होता तो मैं संभवतः उसके पास न जाता। क्योंकि प्रारंभिक जीवन में मैं बहुत संकोचशील था। इसलिये पूर्णतः स्वचेष्टित उपायों से बड़ी कठिनाई के साथ उनकी अधिकांश कविताओं का अर्थ संतोषजनक रूप से समझ पाने में समर्थ हो पाया था। फिर भी कुछ कविताएँ ऐसी रह गई थीं जिनका कुछ भी निश्चित अर्थ मेरी समझ में नहीं आता था। अतएव कोई दूसरा रवीन्द्र-काव्य-प्रेमी उन्हें किस रूप में समझ पाता है यह जानने के लिए मैं बहुत दिनों से उत्सुक था। इसके भीतर किसी हद तक निश्चय ही मेरा यह बाल-अहंकार काम कर रहा था कि रवीन्द्र की जो कविता किसी भी उपाय से मेरी समझ में नहीं आती उसे कोई दूसरा कैसे समझ सकता है, फिर चाहे वह कैसा ही विद्वान और प्रतिभाशाली क्यों न हो।

जो भी हो, मेरे ढीठ प्रश्न के उत्तर में शरत्चन्द्र ने शान्त भाव से धीरे-धीरे हुक्का गुड़गुड़ाते हुए कहा, "हाँ, मुझे तो पूरा विश्वास है कि उनकी किसी भी कविता का अर्थ मेरे आगे अस्पष्ट नहीं रह गया है।"

मैंने 'चयनिका' हाथ में लेकर पन्ने उलटे और एक क्लिष्ट

कविता खोलकर पुस्तक उनके आगे बढ़ाते हुए कहा: "मैं इस कविता का अर्थ जानना चाहता हूँ। इसके पीछे मैं बहुत माथा-पच्ची कर चुका हूँ।"

उन्होंने हुक्का छोड़कर आँखों में चश्मा जमाया और कविता को देखने लगे। वह थी रवीन्द्रनाथ की सुप्रसिद्ध 'सोनार तरी' शीर्षक कविता। देखते ही मुस्कराते हुए बोल उठे; "यही एक कविता आपने ऐसी दिखाई जिसका अर्थ स्वयं रवीन्द्रनाथ भी नहीं बता पाते—लोगों ने उनसे पूछ कर देखा है। तरह-तरह के पंडित लोग इसका तरह-तरह का अर्थ लगाते हैं, और प्रत्येक का अर्थ एक-दूसरे का विरोधी पड़ता है। अकेली यही नहीं, इसी 'सिरीज' की कुछ और भी कविताएँ हैं जिनका निगूढ़ रहस्यात्मक अर्थ समझ पाना कठिन है" कहते हुए उन्होंने चश्मा उतार कर रख दिया और फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगे।

बंगला-प्रेमी पाठकों की जानकारी के लिये मैं पूरी कविता को नीचे उद्धृत करता हूँ—

गगने गरजे मेघ घन बरषा।
कूले एका बसे आछि नाहि भरसा।
राशि राशि भारा भारा धान काटा हलो सारा।
भरा नदी क्षुर धारा खर-परशा।
काटिते-काटिते धान एलो बरषा।

एकखानि छोटो खेत आमि एकेला,
चारिदिके बाँका जल करिछे खेला।
परपारे देखि आँका तरुछाया मसीमाखा,
ग्रामखानि मेघे ढाका प्रभात बेला।
गान गये तरी बेये के आसे पारे।
देखे जेन मने हय चिनि उहारे।

भरा पाले चले जाय कोनो दिके नाहि चाय,
ढेउगुलि निरुपाय भाङे दुधारे।
ओगो तुमि कोथा जाओ कोन विदेशे ?
बारेक भिड़ाओ तरी कूलेते एसे।
जेयो जेथा जेते चाओ जारे खुशी तारे दाओ,
तुमि शुधु निये जाओ क्षणिक हेसे
आमार सोनार धान कूलेते एसे।
जत चाओ तत लओ तरणि परे।
आरो आछे ? आर नाई दियेछि भरे।
एतकाल नदी कूले जाहा लये छिनु भूले
सकलि दिलाम तुले थरे बिथरे
एखन आमारे लहो करुणा करे।
ठाँइ नाई ठाँइ नाई छोटो से तरी
आमारि सोनार धाने गियेछे भरि
श्रावण-गगन घिरे घन मेघ घूरे फिरे,
शून्य नदीर तीरे रहिनु पड़ि,
जाहा छिलो निये गेलो सोनार तरी॥

इस कविता के शब्दार्थ से यह सार निकलता है कि प्रभात का समय है, बादल गरज रहे हैं और झमाझम पानी बरस रहा है। कवि उमड़ती हुई नदी के किनारे एक छोटे से खेत पर हताश भाव से अकेला खड़ा है, जहाँ बहुत-सा धान कट चुका है। इतने में उस पार से एक नाव में बैठकर कोई गाना गाता हुआ इस पार की ओर आता है। कवि की अंतरात्मा को सूरत पहचानी-सी लगती है, हालाँकि वह प्रकट में कोई अनजान विदेशी-सा मालूम होता है। उस अजनबी को देखकर कवि के मन में यह इच्छा जगती है कि उस पर अपना सर्वस्व निछावर

कर दे। वह उस विदेशी से प्रार्थना करता है कि "तुम अपनी नाव को किनारे लगाकर मेरे इन सब सोने की तरह पके हुए धानों को प्रसन्न मन से ले जाओ, उसके बाद फिर जिसे चाहो दे देना।" जब नाव धान की बालियों से भर जाती है तब वह कहता है कि "इतने दिनों तक मैं जिस संपत्ति को लेकर नदी के किनारे भूला हुआ पड़ा था वह सब मैं अब तुम्हें अर्पित कर चुका हूँ। अब करुणा करके तुम मुझे भी अपने साथ लिये चलो।"

पर वह छोटी-सी नाव धान से इस कदर भर चुकी है कि उसमें कवि के लिये स्थान नहीं रह जाता, और वह शून्य नदी के किनारे ही पड़ा रह जाता है।

कुछ भाष्यकारों को यह मर्ज होता है कि कोई कविता चाहे कैसी ही 'फेन्टेस्टिक' क्यों न हो, उसका कुछ न कुछ अर्थ वे अवश्य ही कविता को तोड़-मरोड़कर निकालेंगे ही। रवीन्द्र की इस कविता का भी मनमाना अर्थ लगाने का प्रयत्न बहुत से तथाकथित पंडितों ने किया है। पर सब बुरी तरह असफल और परस्पर विरोधी सिद्ध हुए हैं। यदि हम इस कविता को रहस्य-वादी कवि के किसी विशेष 'मूड' में निकली हुई 'फेन्टेसी' मानें, तो इस रूपक का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि सहसा किसी दिव्य प्रेरणा के फलस्वरूप कवि के अंतर्जगत् में एक ऐसी आश्चर्य प्रकाश-मूर्ति का आविर्भाव हुआ कि कवि समस्त भौतिक बंधनों या अपने भीतर इतने दिनों तक पाली हुई समस्त लौकिक धारणाओं के जाल से मुक्त होकर उसी दिव्य चेतना के प्रति अपना सब कुछ अर्पित कर देना चाहता है और स्वयं भी उसी में लीन हो जाने की इच्छा रखता है। कवि की 'फेन्टेसी' को अपने कल्पनानुसार तोड़-मरोड़कर किसी तरह इतनी दूर तक तो घसीटा जा सकता है, पर अंतिम पद फिर से एक पहेली ही

उलझन में डाल देता है। अंतिम पद का शब्दार्थ इस प्रकार है।

"उस छोटी-सी नाव में मेरे लिये जगह नहीं रह गई है। वह तो मेरे धान की सोने की बालियों से ही भर गई है। श्रावण के गगन को घेर कर घने बादल उमड़ रहे हैं, और मैं सुनसान नदी के किनारे अकेला रह गया हूँ। मेरा जो कुछ था वह सोने की नाव उठा ले गई।"

इसे पढ़कर स्पष्ट ही यह प्रश्न उठता है कि वह दिव्य प्रकाश-मूर्त्ति इतनी सीमित और संकीर्ण कैसे हुई कि उसकी छोटी-सी नाव में केवल कवि के अंतर में अंकुरित हुए सोने के धान की बालियों के समान भाव ही भरे जा सके और स्वयं कवि की आत्म-चेतना उसमें विलीन होने के लिए स्थान न पा सकी ? इसी प्रकार किसी भी छायात्मिका कल्पना का रूपक उस कविता के ढाँचे के भीतर 'फिट' करने का प्रयत्न कीजिये वह कहीं न कहीं अवश्य गड़बड़ा जायगा।

शरत्चंद्र ने कहा :—"इस कविता को या इसी 'सिरीज' की कुछ और कविताओं को छोड़ दीजिये, रवीन्द्रनाथ की शेष सब कविताएँ साफ़ और सुलझी हुई हैं। रवीन्द्रनाथ ने भाव-जगत् का एक भी ऐसा क्षेत्र नहीं छोड़ा है जिसे कवित्व के भीतर न बाँधा हो। और उन सर्वग्राही भावों के परिस्फुटन के लिए उन्होंने विविध शैलियों और विभिन्न रूपकों को अपनाया है। ऐसी हालत में यह स्वाभाविक है कि कुछ थोड़ी-सी कविताएँ अत्यधिक रहस्यात्मक और अस्पष्ट रह गई हैं। उन थोड़ी-सी कविताओं के कारण कुछ आलोचकों ने उन्हें बदनाम कर रखा है, और कुछ तो उनकी सभी कविताओं को निरर्थक शब्दजाल तक सिद्ध करने पर तुले हैं। सच बात यह है कि इस तरह के आलोचक किसी बड़े कवि की किसी भी कविता

का अंतर्भाव समझने योग्य न तो बुद्धि ही रखते हैं न हृदय। श्रेष्ठ कवियों की कविताओं को समझने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि पाठक ने कवि-हृदय पाया हो, और दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि वह कविता की विभिन्न शैलियों, रूपकों और सांकेतिक भाव-चित्रों की अभिव्यंजना के तौर-तरीकों के संबंध में शिक्षा पाया हुआ हो। इन दोनों शर्तों की पूर्ति न होने पर कवि की सुस्पष्ट कविता भी समझ में न आ सकेगी। जिस 'गीतांजलि' पर रवींद्रनाथ को नोबेल पुरस्कार मिला था उसकी कविताएँ कैसी सरल और सुस्पष्ट हैं, यह आप जानते ही होंगे पर ये सरल और सुस्पष्ट कविताएँ भी उनलोगों को अस्पष्ट, और छायात्मक लगने लगती हैं जिन्हें अंतर्भावनाओं को चित्रित करनेवाले सांकेतिक रूपकों के संबंध में कोई जानकारी नहीं है।......"

वाद-विवाद में काफी देर हो चुकी थी। मैं उनका मूल्यवान समय अधिक नष्ट नहीं करना चाहता था, इसलिए मैं सहसा उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़ता हुआ चलने की आज्ञा माँगने लगा।

"अभी कुछ देर और बैठिए, चाय आ रही है।"

इस प्रेम भरे आदेश को मैं भला कैसे टाल सकता था? अत्यंत प्रसन्न होकर बैठ गया। प्रायः दूसरे ही क्षण नौकर दो प्यालों में चाय लाकर रख गया। चाय पीते हुए शरत्चंद्र ने पूछा: "आपने अभी तक क्या-क्या लिखा है, अभी क्या लिख रहे हैं और आगे क्या लिखने का विचार है?"

मैंने कहा: "आपके प्रश्न का उत्तर देने के पहले मैं एक प्रार्थना आपसे करना चाहता हूँ।"

"क्या?"

"यह कि अब से आप मुझे 'आप' संबोधित करके अधिक लज्जित न करें।"

स्नेहपूर्वक मुस्कुराते हुए शरत्चंद्र बोले : "अच्छी बात है।"

तब, मैंने कहा : "अभी तक मैंने कुछ कहानियाँ, कविताएँ और साहित्यिक निबंध ही लिखे हैं, जो अभी तक पुस्तक-रूप में नहीं छपे हैं। आगे क्या लिखूँगा, अभी से इस संबंध में कुछ नहीं कह सकता। वैसे उपन्यास लिखने की ओर मेरी रुझान है। इस समय कुछ भी नहीं लिख रहा हूँ।"

"तब आप मेरे उपन्यासों का अनुवाद हिंदी में क्यों नहीं कर डालते?" उन्होंने सहज भाव से कहा।

यह प्रस्ताव उनकी तरफ से आयगा, इसका स्वप्न भी मैं नहीं देख सकता था। और साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि मैंने स्वयं कभी उनके उपन्यासों के अनुवाद की बात नहीं सोची थी। उनके उस आकस्मिक और अप्रत्याशित प्रस्ताव ने मेरे भीतर एक द्वन्द्व उत्पन्न कर दिया। सच बात यह है कि प्रारंभ ही से मेरे मन में यह (गलत या सही) धारणा जम चुकी थी कि अनुवाद का काम किसी भी लेखक के लिए अपमानकर है जो अपने भीतर मौलिक विचारों की प्रेरणा पाता है। कम से कम अपने लिए तो मैं यह निश्चय कर चुका था कि मैं कभी किसी लेखक की किसी भी रचना का अनुवाद नहीं करूँगा। उन दिनों हिंदी में कथा-साहित्य संबंधी मौलिक रचनाओं का बहुत अभाव था और बंगला के तीसरी और चौथी श्रेणी के लेखकों की भी रचनाएँ पेशेवर अनुवादकों द्वारा धड़ल्ले से अनूदित होकर छपती चली जाती थीं। संभवतः इस बात की भी प्रतिक्रिया मेरे मन में हुई हो या यह भी संभव है कि यह मेरे घमंडी मन की ही जिद रही हो, जो हिंदी-साहित्य के भीतर गहन गुफा

में छिपे हुए बीजों को निकाल कर उन्हें उपयुक्त मिट्टी में बोकर उन्हें दूसरे साहित्य की छाया से अलग रहकर अच्छी तरह पनपने और उन्नततम रूपों में विकसित होने का स्वप्न देख रहा था।

कारण जो भी रहा हो, मैं अनुवाद के लिए राजी न हुआ और विनम्र भाव से हाथ जोड़कर क्षमा याचना का भाव जताते हुए बोला : "अभी आप मुझे क्षमा करें। इसके अलावा मेरी कुछ ऐसी धारणा है कि अभी आपके साहित्य के स्वागत के लिए पूरी तरह से उपयुक्त वातावरण भी हिंदी-जगत में तैयार नहीं हुआ है।" मैं जानता हूँ कि जो दूसरा कारण मैंने बताया था वह गलत था। पर मैं किसी तरह शिष्टतापूर्वक उस प्रस्ताव को टाल जाना चाहता था।

चाय पीकर मैं नमस्कारपूर्वक विदा हुआ।

उस वर्ष (१६२३) रायटर ने यह समाचार प्रचारित कर दिया कि इस बार का साहित्य संबंधी नोबेल पुरस्कार किसी भारतीय लेखक को मिलनेवाला है। उन दिनों रायटर द्वारा प्रसारित समाचार अकाट्य रूप से प्रामाणिक माने जाते थे। मैं हर्ष से उछल पड़ा। शरत् को छोड़कर और किसी भी दूसरे भारतीय लेखक को नोबेल पुरस्कार मिल सकने की संभावना की बात ही मैं नहीं सोच सकता था। कुछ ही समय पूर्व 'श्रीकांत' का पहला भाग अंग्रेजी में अनुवादित होकर आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित हो चुका था। मैंने सोचा कि उसी अनुवाद से प्रभावित होकर नोबेल पुरस्कार समिति के सदस्यों ने शरत् को पुरस्कृत करने का निश्चय किया होगा। नोबेल पुरस्कार के इस नियम से मैं परिचित था कि पुरस्कार के लिए केवल उन्हीं रचनाओं पर विचार किया जा सकता है जिनका अनुवाद किसी भी एक यूरोपियन भाषा में हुआ हो।

जो भी हो, समाचार पढ़ते ही मैं इस कदर उतावला हो उठा कि तत्काल शरत्चंद्र को अग्रिम बधाई देने के लिए दौड़ पड़ा। सुबह प्रायः आठ बजे का समय रहा होगा। जाड़े के दिन थे। शरत्चंद्र बाहर दालान में एक आराम कुर्सी पर लेटे हुए थे और हुक्का गुड़गुड़ाते हुए धूप खा रहे थे। दो अतिरिक्त कुर्सियाँ वहाँ पर रखी हुई थीं। मैं हाथ जोड़कर एक कुर्सी पर बैठ गया और पुलक-भरी प्रसन्नता मुख पर झलकाते हुए बोला: "बधाई देने आया हूँ।"

"किस बात के लिये ?" स्नेहपूर्वक मंद-मंद मुस्कराते हुए उन्होंने पूछा।

"नोबेल प्राइज संबंधी समाचार तो आपने पढ़ा ही होगा ?"

"हाँ, पढ़ा तो है। पर उसमें यह बात कहाँ कही गई है कि पुरस्कार शरत्चंद्र को ही मिलेगा ?"

"पर रवीन्द्रनाथ के बाद आपको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा भारतीय लेखक है जो इस पुरस्कार के योग्य हो ?"

शरत्चंद्र ने हुक्के की सटक मुँह से निकाल कर कुर्सी की बाँह पर लटका दी और अधलेटी मुद्रा त्यागकर तनिक मेरी ओर झुककर ठीक से बैठ गये।

"देखो भाई, सच बात यह है कि समाचार पढ़ने के बाद से मेरे मन में थोड़ी-सी खलबली मची है," उन्होंने अपेक्षाकृत धीमे स्वर में कहा—"मैं भी तब से सोच रहा हूँ कि दूसरा भारतीय लेखक कौन हो सकता है जिसे पुरस्कार मिल सकने की संभावना हो। आजकल डा० इकबाल की कविताओं की भी इंगलैण्ड में चर्चा है। अंगरेजी में उनकी कविताओं का अनुवाद हो चुका है। सरोजिनी नायडू का कोई नया कविता-संग्रह यद्यपि इधर प्रकाशित नहीं हुआ है फिर भी यह असंभव नहीं कि उन्हें नोबेल पुरस्कार मिल जाय। इन दो के अलावा एक व्यक्ति और हैं। भारत में उनके साहित्य का विशेष प्रचार नहीं है, पर अंगरेजी में उनकी कुछ अच्छी चीजें इधर प्रकाशित हुई हैं, जिनकी काफी चर्चा अंगरेजी पत्र-पत्रिकाओंमें हुई है... "

मुझे किसी ऐसे लेखक की जानकारी नहीं थी। मैंने उनका नाम जानना चाहा। जहाँ तक मुझे याद है, उन्होंने उक्त लेखक का नाम सुरेन्द्रनाथ बताया। मालूम हुआ कि वह बंगाली हैं पर लिखते अंगरेजी में हैं और कलकत्ते से प्रकाशित कुछ

अंगरेजी पत्रों में भी उनकी कविताएँ और कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

मैंने पूछा—"आपने उनकी चीजें पढ़ी होंगी; आपको कैसी लगीं ?"

"मुझे तो कुछ खास जँचीं नहीं," उन्होंने सहज भाव से उत्तर दिया।

"तब आपके मन में यह कल्पना ही कैसे जगी कि उन्हें भी नोबेल पुरस्कार मिल सकने की संभावना है ?"

"पाश्चात्य पारखियों के दृष्टिकोण के संबंध में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती, संभव है कि कोई विशेषता तुम्हारी और हमारी नजर से छिपी रह जाय और नोबेल पुरस्कार के पारखियों की पकड़ में आ जाय।"

"नोबेल पुरस्कार के पारखियों के संबंध में आपकी क्या धारणा है ? उन्हें आप उचित निर्णय के अधिकारी मानते हैं या नहीं ?"

"उनके संबंध में यद्यपि मुझे कोई जानकारी नहीं है, तथापि मुझे पूरा विश्वास है कि उनका ज्ञान बहुत गहन और दृष्टि बहुत पैनी होती है।"

"तब आप यह मानते हैं कि वे किसी ऐसे लेखक को पुरस्कार नहीं दे सकते जिसके साहित्य का स्तर बहुत ऊँचा न हो ?"

"मेरी यही धारणा है।"

"फिर भी आप यह कल्पना करते हैं कि ऐसे लेखक को पुरस्कार मिल सकता है जिस[illegible] आपकी दृष्टि में सामान्य है ! यह आश्चर्य की ही बात है। आपको भले ही अपनी परख पर विश्वास न हो, पर मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि

नोबेल पुरस्कार के किसी भी पारखी की अपेक्षा आपका अंतर्ज्ञान हीन नहीं हो सकता।"

वह मंद-मंद मुस्कराये। बोले: "कुछ कहा नहीं जा सकता भाई, कुछ कहा नहीं जा सकता!"

मैं अपनी अन्तर्प्रेरणा से उनके मनोभाव को खूब समझ रहा था, मेरी यह धारणा है। मैं देख रहा था उस महान कलाकार के भीतर मचनेवाली खलबली को जिसके मन में जन-साधारण की तरह ही यह विश्वास जमा हुआ था कि नोबेल पुरस्कार एक महान् विभूति है जो किसी बिरले भाग्यशाली को ही प्राप्त हो सकता है। और अपने भाग्य को उस हद तक प्रबल मानने में शरत् का मन हिचक रहा था। यह अपनी योग्यता पर नहीं, अपने भाग्य पर अविश्वास था। यही कारण था कि उन्हें एक ऐसे लेखक को नोबेल पुरस्कार मिल सकने की संभावना भी दिखाई दी, जिसकी बात दूसरा कोई व्यक्ति कष्ट-कल्पना में भी नहीं सोच सकता था। सोच-सोचकर मुझे मन-ही-मन हँसी भी आ रही थी और दुःख भी हो रहा था।

उनका मनोभाव जान लेने के बाद मैंने कहा: "देखिये, मैं एक बात आपको साफ-साफ बता देना चाहता हूँ। व्यक्तिगत रूप में मैं नोबेल पुरस्कार को उतना महत्त्व नहीं देता जितना कि साधारणतः दिया जाता है। इसके कई कारण हैं, जिनमें एक तो नोबेल पुरस्कार के पारखियों को न तो दूध का धुला हुआ मानता हूँ और न आपकी तरह मेरी यह धारणा है कि उनका अन्तर्ज्ञान बहुत गहन और दृष्टि बहुत पैनी होती है। वे [illegible] साहित्य के अच्छे ज्ञाता हो सकते हैं, पर उच्च कोटि की साहित्य-कला संबंधी सभी बारीकियों से वह अवश्य ही परिचित होंगे, ऐसा मैं नहीं समझता। उनसे भी बहुत-सी ऐसी

भूलें हो सकती हैं जितनी आपसे या हमसे। साथ ही वे सभी पक्षपात से बरी होंगे, ऐसा भी मैं नहीं सोचता। एक और कारण यह है कि प्रतिवर्ष इतने अधिक लेखकों की रचनाएँ उनके पास जाती होंगी कि सब को ईमानदारी से धैर्यपूर्वक पूरा-पूरा पढ़ सकना उनके लिये संभव भी न होता होगा। केवल उन्हीं लेखकों की रचनाओं को वे पढ़ते या देखते होंगे जिनकी सिफारिश किसी मान्य सांस्कृतिक संस्था द्वारा की गई हो। जहाँ तक मुझे मालूम है, नोबेल पुरस्कार समिति ने कुछ इसी उद्देश्य का एक नियम भी निर्धारित किया है। ऐसी हालत में संसार के सभी महान् और प्रतिभाशाली लेखकों की रचनाओं पर विचार कर सकने का अवसर उन्हें प्राप्त होता होगा, ऐसा मैं नहीं समझता। अवश्य ही बहुत से ऐसे योग्य और महान् प्रतिभा-सम्पन्न लेखक संसार में होंगे जो कुछ विशेष कारणों से लोकप्रिय न हो पाये हों और फलतः उनके नाम किसी भी मान्य संस्था द्वारा नोबेल पुरस्कार समिति के पास भेजे जाने से रह जाते हों। इन और दूसरे कारणों से मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि जिस लेखक को नोबेल पुरस्कार मिला हो वही उस विशेष वर्ष में संसार के सभी विशेष लेखकों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो चुका। पर यह सब होने पर भी मेरा दृढ़ विश्वास है कि आपने सुरेन्द्रनाथ नाम के जिस अँगरेजी में लिखनेवाले लेखक का उल्लेख किया है उसे इस जन्म में कभी नोबेल पुरस्कार नहीं मिलेगा।"

"क्यों? ऐसी निश्चित धारणा उसके विरुद्ध तुम्हारे मन में क्यों जगी है, जब कि उसकी कोई रचना तुमने अभी तक नहीं पढ़ी?" स्नेहपूर्वक मुस्कराते हुए शरत् ने कहा।

"जो लेखक अपनी मातृभाषा छोड़कर अँगरेजी में साहित्य

चीजें लिखने का दम भरता हो वह कभी कोई गहरी, चुभती हुई और स्थायी महत्त्व की चीज लिख नहीं सकता।"

"यह तुम्हारा अन्याय है। इस प्रकार का विरोधी संस्कार कभी किसी 'रेशनल' सिद्धांत पर आधारित नहीं होता...तुम केवल भाव के आवेश में इस तरह की बात कह रहे हो।"

"ठीक है," मैंने उसी आवेश के साथ कहा, "मैं मानता हूँ कि मेरी यह बात किसी 'रेशनल' सिद्धांत पर आधारित नहीं है। फिर भी मेरी बात में कितनी सचाई है इसका प्रमाण आपको जल्दी ही मिल जायगा।"

कुर्सी की बाँह पर साँप की तरह बल खाती हुई सटक को फिर से मुँह में लगाकर शरत्‌चंद्र ने हुक्का गुड़गुड़ाया। चिलम ठंढी हो चुकी थी इसलिए धुआँ नहीं निकला। उन्होंने नौकर को पुकारा और नये सिरे से चिलम भर लाने को कहा। जब नौकर चिलम लेकर चला गया तब उन्होंने प्रेमपूर्वक मंद-मंद मुस्कराते हुए तनिक संकोच-भरी मुद्रा में कहा: "तो तुम्हारी यह धारणा है कि पुरस्कार यदि किसी भारतीय लेखक को मिल सकता है तो वह केवल मुझी को ?"

"मेरी तो यही धारणा है। केवल एक आशंका मेरे मन में है।"

"वह क्या ?" उन्होंने तनिक उत्सुक भाव से पूछा।

"आपके 'श्रीकांत' का केवल एक ही भाग अभी तक अंगरेजी में अनुवादित हो पाया है। यदि दोनों भाग* एक साथ अनुवादित हो गये होते, तो आपका दृष्टिकोण और अधिक सुस्पष्ट

* तब तक शरत् ने 'श्रीकांत' के केवल दो ही 'पर्व' लिखे थे और उस समय तक उनका विचार उसे और आगे बढ़ाने का नहीं था। —लेखक

हो गया होता। पहले भाग में बहुत-सी बातें अधूरी रह गई हैं। दो-एक पात्रों को छोड़कर शेष सबका चरित्र-चित्रण अधूरा रह गया है। यहाँ तक कि स्वयं नायक का भी चरित्र ठीक से परिस्फुट नहीं हो पाया है।……"

वह आत्मविश्वासपूर्वक मुस्कराते हुए बोले: "तुम्हारी यह दलील मुझे कुछ जँची नहीं। मेरी अपनी यह धारणा है कि पाश्चात्य जनता केवल 'श्रीकांत' के पहले भाग को 'एप्रीशियेट' कर सकती है। उसमें अन्नदा दीदी और इन्द्र जैसे चरित्र उनके लिये एकदम नये और कौतूहलवर्धक हैं, जो केवल भारतीय वातावरण में ही मिल सकते हैं। दूसरे भाग में विद्रोहिणी अभया, उसका चरित्रहीन और अत्याचारी पति आदि चरित्र ऐसे हैं जिनसे पाश्चात्य देशों के लोग अच्छी तरह परिचित हैं। इसलिये उनका कोई विशेष महत्त्व उनके लिये नहीं है।"

नौकर ताजा चिलम भरकर ले आया और शरत्चंद्र आराम से हुक्का गुड़गुड़ाने लगे।

मैं उनके इस तर्क से प्रभावित न हो सका। मैंने उन्हें बताया कि दूसरे भाग में अभया और उसके पति के अलावा और भी बहुत-से ऐसे निम्न, मध्यवर्गीय और प्रोलेतेरियन श्रेणी के बंगाली तथा बर्मी पात्र-पात्रियों का चरित्रांकन किया गया है जिनमें पाश्चात्य पाठक-समाज काफी दिलचस्पी ले सकता है, और चूँकि उन पात्र-पात्रियों का चरित्रांकन बहुत ही सुन्दर रूप से हुआ है, इसलिए दूसरे भाग का पहले से कुछ कम महत्त्व मैं नहीं मानता हूँ। इसके अलावा मैंने इस बात पर भी जोर दिया कि दूसरे भाग में कथानायक श्रीकांत और नायिका राजलक्ष्मी (उर्फ प्यारी) के चरित्र और अधिक सुस्पष्ट होकर उभर आये हैं।

इस बार वह कुछ देर तक मौन रहकर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए शायद मेरी बातों पर विचार करते रहे। उसके बाद बोले: "देखो, क्या होता है। यदि तुम्हारी ही बात मान ली जाय कि अनुवाद अधूरा रह गया है तो भी अब उसका कोई उपचार नहीं हो सकता, क्योंकि नोबेल पुरस्कार समिति का अंतिम निर्णय अब होने को होगा। यदि पुरस्कार मिल गया तो अच्छा ही है, और न मिला तो भी मुझे कोई विशेष खेद न होगा। तुम्हारी इस बात में मैं बहुत-कुछ सचाई मानता हूँ कि संसार के सभी बड़े और प्रतिभाशाली लेखकों को नोबेल पुरस्कार मिल ही जायगा ऐसी कोई निश्चयात्मक बात नहीं है। फिर भी यह बात तो माननी ही पड़ेगी, यह पुरस्कार किसी भी लेखक के लिये है प्रलोभनीय…"

"प्रलोभनीय किस अर्थ में ?" मैंने पूछा।

"जिसे यह पुरस्कार मिल जाता है उसकी ख्याति सारे ज्ञात विश्व में बिजली के वेग से फैल जाती है। और इतनी बड़ी ख्याति का प्रलोभन न हो ऐसा कोई कवि या लेखक हो सकता है, यह मैं नहीं मान सकता। मैं इतना बड़ा ढोंगी बनना नहीं चाहता कि तुमसे कह दूँ कि मुझे इसका कोई भी प्रलोभन नहीं है।"

मैं उनकी इस सरल और स्पष्ट उक्ति पर मुग्ध हो गया। कुछ क्षणों के लिये सन्नाटा छाया रहा। मैं मौन भाव से उनके मुख के भाव का अध्ययन करता रहा और वह मेरी ओर अनमने भाव से देखते रहे।

संकोच को प्रश्रय देनेवाले उस अशोभन मौन को भंग करते हुए मैंने कहा : "आपकी यह सहज स्वीकृति आपके चरित्र की महानता की परिचायक है। पर एक बात इस संबंध में मुझे आपसे और कहनी है। वह यह कि यह केवल इसी देश का

दुर्भाग्य है कि बिना नोबेल पुरस्कार पाये यहाँ के प्रतिभाशाली लेखकों की ख्याति समस्त ज्ञात विश्व में नहीं फैल सकती। पाश्चात्य देशों के लेखकों के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। वहाँ विभिन्न देशों में बहुत से ऐसे प्रतिभाशाली लेखक हैं जो नोबेल पुरस्कार न पाने पर भी अनेक नोबेल पुरस्कार-प्राप्त व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्धि पा चुके हैं।"

"जैसे ?"

"टाल्सटाय को नोबेल पुरस्कार समिति ने कभी पुरस्कार योग्य नहीं माना, इस तथ्य से आप अवश्य ही परिचित होंगे। पर उसके जीवन-काल में ही उसकी जैसी ख्याति सभी पाश्चात्य और प्राच्य देशों में फैल चुकी थी और आज भी फैली हुई है वैसी शायद ही किसी भी नोबेल पुरस्कार-प्राप्त व्यक्ति को प्राप्त हुई हो। वही हाल गोर्की का है। आनातोल फ्रांस को अभी पिछले वर्ष प्रायः ७६ वर्ष की अवस्था प्राप्त कर चुकने पर नोबेल पुरस्कार मिला, पर पिछले पचास वर्षों से संसार भर में उसकी जैसी प्रसिद्धि रही है वह किसी भी लेखक के लिये ईर्ष्या योग्य है, यह आप मानेंगे। इसी तरह के और भी कई उदाहरण मिल सकते हैं। पर बेचारे भारत के प्रतिभाशाली लेखकों का यह हाल है कि देश के बाहर ख्याति पाने की बात तो दूर रही, देश के भीतर भी (अपने प्रांत को छोड़कर) उनकी ख्याति ठीक से नहीं फैल पाती। आप अपना ही दृष्टांत लीजिये, बंगाल में आपकी ख्याति काफी फैल चुकी है, पर बंगाल के बाहर केवल मुट्ठी भर लोग ऐसे होंगे जो आपके नाम तक से परिचित हों—रचनाओं से परिचित होने की बात तो दूर रही।"*

* तब तक शरच्चंद्र के नाम से परिचित लेखक या पाठक हिंदी संसार में भी उँगलियों में गिने जाने योग्य थे, महाराष्ट्र और गुजरात में तो शायद इतने भी नहीं थे।
—लेखक

"तुम्हारी बात में बहुत-कुछ सचाई है," बरबस निकलती हुई लंबी साँस को दबाने का प्रयत्न करते हुए शरत्चंद्र ने कहा। "और इसका कारण भी स्पष्ट है। देश के भीतर ख्याति न फैल सकने का कारण है देश में फैली हुई अशिक्षा, सुसंस्कृत साहित्यिक रुचि का अभाव, सामूहिक आर्थिक दुरवस्था, जिसके कारण इने-गिने साहित्य-प्रेमी लोग भी इच्छित पुस्तकों को खरीद कर अंतर्प्रान्तीय साहित्य का समुचित ज्ञान प्राप्त कर सकने में असमर्थ हैं। रही विदेशों की बात। सो वहाँ के लोगों को क्या गरज कि यहाँ की भाषाएँ सीखें! उनकी धारणा है कि गुलाम देशों की भाषाओं में कोई महत्त्वपूर्ण साहित्य नहीं मिल सकता। फिर भी कुछ विरले मनीषी ऐसे भी हैं जो यहाँ के साहित्य में पूरी दिलचस्पी लेते हैं। कुछ ही समय पहले एक इटालियन ने एक लंबी-चौड़ी चिट्ठी मेरे पास भेजी थी जिसमें उसने 'श्रीकांत' की बहुत प्रशंसा की थी और लिखा था कि यह रचना आज के विश्व-साहित्य की चोटी की रचनाओं में गिने जाने योग्य है। उसने मूल बंगला में उसे पढ़ा है और अब इटालियन भाषा में उसका अनुवाद करने जा रहा है। कुछ अंगरेज विद्वानों की चिट्ठियाँ भी मेरे पास आई हैं, जिनमें उन्होंने मेरी रचनाओं की प्रशंसा करने के साथ ही आलोचना भी की है। इन चिट्ठियों से पता चलता है कि पश्चिम के विद्वानों में धीरे-धीरे यह विश्वास जमने लगा है कि प्राच्य देशों के लेखक भी संसार को महत्त्वपूर्ण साहित्य दे सकते हैं। रवीन्द्रनाथ को नोबेल पुरस्कार मिलने के बाद यहाँ के साहित्य के प्रति जो दिलचस्पी वहाँ जनता में जगी थी वह कुछ ही वर्षों बाद फिर उदासीनता में परिणत होने लगी थी। इधर फिर नये सिरे से यह दिलचस्पी जगने लगी है। पर, जैसा कि मैंने अभी कहा, यह कुछ इने-गिने

विद्वानों तक ही सीमित है। वहाँ की साधारण साहित्यिक जनता की उदासीनता अभी तक वैसी ही बनी हुई है......"

मैंने कहा : "इस उदासीनता को दूर करने का केवल एक ही उपाय हो सकता है—यहाँ के विद्वान आलोचक विदेशी भाषाएँ सीखें और तब उन भाषाओं की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में यहाँ के प्रतिभाशाली कवियों और लेखकों की रचनाओं पर गंभीर विवेचनात्मक रूप से अधिक से अधिक प्रकाश डालें और उनका अधिक से अधिक प्रचार करें। यह प्रचार का युग है, बिना प्रचार के अच्छा से अच्छा साहित्य भी एक कोने में पड़ा रह जाता है। इसलिये संसार की अधिक से अधिक जनता तक अच्छे साहित्य को पहुँचाने के उद्देश्य से प्रचार की सहायता लेनी ही पड़ेगी। प्रचार के अच्छे और बुरे दोनों पहलू हैं। इसी प्रचार के बल पर आज यूरोप और अमेरिका की तीसरी श्रेणी की रचनाएँ भी भारत की साहित्यप्रेमी जनता के आगे 'श्रेष्ठ साहित्य' के रूप में आ रही हैं। भारत के श्रेष्ठ और प्रतिभाशाली साहित्यकार केवल लेखक की साधना पर विश्वास करते आये हैं, प्रचार पर नहीं; मैं स्वयं भी साधना को ही सबसे पहले महत्त्व देता हूँ। पर साथ ही वास्तविकता के प्रति आँख मूँदकर केवल साधना को लेकर चलना बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता का काम है, ऐसा मैं नहीं मानता। साधना पर निश्चय ही अधिक से अधिक जोर दिया जाना चाहिये किंतु साथ ही प्रचारात्मक साधनों का भी उपयोग साहित्य-प्रचार की दृष्टि से करने में हानि के बजाय लाभ ही होगा। तभी भारतीय रचनाएँ और भारतीय प्रतिभा विश्व-साहित्य के प्रांगण में सुधीजनों के बीच में आ सकने में समर्थ होगी।"

"तुम्हारी बात गलत नहीं है," शरत्‌चंद्र ने सहज भाव

से कहा। "पर अभी हमारे पास प्रचार के कोई साधन ही नहीं हैं। इसके लिये अभी हमलोगों के पास न धन-बल है, न जन-बल और न संगठन-बल ही। शासक-संप्रदाय से इस संबंध में कुछ सहायता मिलने के बजाय रुकावट ही मिलने की संभावना अधिक है। इन सब परिस्थितियों को देखते हुए कभी-कभी ऐसा अनुभव होने लगता है कि केवल मौनभाव से अपना कार्य करते चले जाने में ही भलाई है। मैं कभी प्रचार के पचड़े में नहीं पड़ सकता—मेरा स्वभाव ही इसके अनुकूल नहीं है।" यह कहते हुए उन्होंने थोड़ा-सा मुँह बनाया, जैसे आज की दुनिया की झूठी प्रचारात्मक कार्रवाइयों से तंग आ गये हों।

"कोई भी श्रेष्ठ लेखक अपने या दूसरों के प्रचार से संबंधित किसी भी कार्रवाई में योग नहीं दे सकता यह बात मैं पहले ही स्वीकार कर चुका हूँ।" अपनी बात को स्पष्ट करने के उद्देश्य से मैंने कहा। "मैंने जो कुछ कहा उसका तात्पर्य केवल यही है कि देश में कुछ ऐसी सांस्कृतिक संस्थाएँ कायम हों जो अपने यहाँ के उच्चतम कोटि के साहित्य का प्रचार विदेशों में निरंतर करती रहें। शांतिनिकेतन बहुत कुछ इस काम की पूर्ति कर रहा है, यद्यपि पर्याप्त आर्थिक साधनों के अभाव से उसके कामों में बहुत-सी रुकावटें आ रही हैं। अकेले शांतिनिकेतन से हम यह आशा कर भी नहीं सकते कि वह हमारे देश के सभी श्रेष्ठ साहित्यिकों की प्रतिभा को पाश्चात्य जनता में पूर्णतया प्रकाशित कर सके। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि देश भर में स्थान-स्थान पर ऐसी साहित्यिक संस्थाएँ स्थापित हों जो इस कार्य में हाथ बटावें। तभी हम अपने साहित्य और संस्कृति के प्रति पाश्चात्य जनता की निपट उपेक्षा के जड़ पाषाण को हिलाने में समर्थ हो सकेंगे।"

बाहर धूप कुछ तेज मालूम होने लगी थी। शरत्चंद्र ने कहा—"चलो भीतर चलकर बैठें। चाय भी वहीं पिएँ।" वहाँ से उठकर जब हमलोग भीतर जाकर बैठे तब मैंने फिर नोबेल पुरस्कार की बात चलाई। मैंने कहा : "प्रचार इस युग में ऐसा विकट साधन बन गया है कि नोबेल पुरस्कार की प्राप्ति के लिये भी उसका प्रयोग किया जाता है, और आश्चर्य इस बात पर है कि इस प्रयत्न से अक्सर सफलता भी मिल जाती है।"

"उदाहरण के लिये ?"

"रुडयार्ड किपलिंग को ही लीजिये। उसकी कविताओं, कहानियों और उपन्यासों से हम सभी लोग परिचित हैं। व्यक्तिगत रूप से मुझे तो उसकी तथाकथित प्रतिभा बहुत ही हलके ढंग की और ऊपरी स्तर की लगती है। उसकी रचनाओं में हमें जीवन का जो स्वरूप मिलता है वह अत्यंत कृत्रिम और छिछला लगता है और हमारे अंतर्मन में प्रवेश कर ही नहीं पाता। भारतीय जीवन की जो झाँकियाँ उसने अपनी विविध रचनाओं में दिखाई हैं और जिस ढंग के भारतीय चरित्रों का चित्रण किया है उन सब में उसी दृष्टिकोण की प्रधानता है जो एक कुतूहली गोरे का रहता है जब वह बर्बरों के बीच उनकी नृत्य-मंडली में या दूसरे प्रकार के उत्सवों में सम्मिलित होता है। ऐसे ओछे ढंग के 'कलाकार' को नोबेल पुरस्कार देकर और टाल्सटाय और गोर्की की परिपूर्ण उपेक्षा करके समिति ने अपनी आश्चर्यजनक अज्ञता और असमर्थता का परिचय दिया है। वह अँगरेजी पत्रकारों के निरंतर प्रचार की सहज शिकार बन गई।"

नौकर दो प्यालों में चाय दे गया। एक घूँट ले चुकने के बाद शरत्चंद्र ने कहा : "किपलिंग को नोबेल प्राइज और किस कारण से मिल गया इस बात पर अभी साहित्य-विशेषज्ञों

को आश्चर्य है। रही टाल्सटाय और गोर्की को पुरस्कार न दिये जाने की बात। जहाँ तक मेरा ख्याल है टाल्सटाय की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियाँ नोबेल पुरस्कार कायम होने के पहले ही निकल चुकी थीं। बाद में उन्होंने जो चीजें लिखीं वे प्रचारात्मक अधिक थीं। गोर्की की रचनाओं में वह आदर्शवादिता नहीं है जिसका विशेष उल्लेख नोबेल पुरस्कार की नियमावली में किया गया है..."

मैं तब तक शरत् की ही प्रेरणा से गोर्की की कई रचनाएँ पढ़ चुका था। उनकी बात बीच ही में काटते हुए मैंने कहा : "तो क्या आपकी भी यह धारणा है कि गोर्की की रचनाएँ विशुद्ध यथार्थवादी हैं और किसी भी प्रकार के आदर्शवाद से रहित हैं ?"

शरत्चंद्र तनिक मुस्कराये—संभवतः मेरी अज्ञता पर। स्नेह-घुले स्वर में धीरे से बोले : "गोर्की के यथार्थवाद के भीतर जो गहन और महान् आदर्शवाद निहित है वह अपने ढंग का एक ही है, पर नोबेल पुरस्कार समिति ने जिस आदर्शवाद की शर्त रखी है वह है पुराने ढंग का परंपरा-प्रचलित सुधारवादी आदर्शवाद..."

"और किपलिंग में वह आदर्शवाद उन्हें मिलता है ?" मैंने चाय का अंतिम घूँट समाप्त करते हुए [illegible] स्वर में कहा।

वह हँस पड़े। बोले : "तुम फिर किपलिंग पर चले आये। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि उसे एक अपवाद मान लो।"

मैं इस बात पर गौर कर रहा था कि शरत्चन्द्र के मन में नोबेल पुरस्कार समिति की साहित्य-समीक्षा संबंधी बुद्धि की विशेषतापर अटूट विश्वास है। पर मेरा विश्वास कई कारणों से टूट चुका था, हालाँकि मैं स्वयं इस बात के लिए बहुत उत्सुक था कि

शरत्चंद्र उस विश्व-विख्यात पुरस्कार द्वारा सम्मानित हों, और उसके द्वारा सारे संसार में उनके साहित्य का मुक्त प्रचार हो।

नौकर ने बताया कि तीन व्यक्ति मिलने के लिये आये हैं। शरत्चंद्र ने बिना जाने ही कि वे लोग कौन हैं और किस लिये आये हैं, उन्हें बुला लाने का आदेश दिया।

तीनों व्यक्तियों ने आकर श्रद्धा और संकोच-भरी विनम्र मुस्कान मुख पर झलकाते हुए शरत्चंद्र के प्रति हाथ जोड़े। तीनों की अवस्था प्रायः तीस के आस-पास लगती थी। उनमें से एक की ओर देखकर शरत् ने कहा: "बोसो बोसो! कोबे एले?" उसके बाद दूसरे व्यक्तियों से बोले: "आपनाराओ बोसून। एँदेर परिचय दाओ हे!"

तीनों बैठ गये और शरत्चंद्र के पूर्व-परिचित सज्जन ने अपने दो साथियों का (जो खद्दरधारी थे) परिचय दिया। मालूम हुआ कि दोनों कॉंग्रेसी कार्यकर्त्ता हैं और किसी ग्रामीण क्षेत्र में काम करते हैं। शरत्चंद्र ने बिना भूमिका के उन लोगों से प्रश्न पर प्रश्न शुरू कर दिया और दोनों अपने क्षेत्रों की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ बताने लगे। मैं अपने को हंसों में काग का-सा अनुभव करता हुआ उठ खड़ा हुआ और शरत्चंद्र से हाथ जोड़कर विदा हुआ।

मेरे कमरे से बाहर निकलने के पहले ही उन्होंने पीछे से कहा—"फिर कब आओगे?" मैंने लौटकर कहा—"जल्दी ही आने का प्रयत्न करूँगा।" और फिर हाथ जोड़कर बाहर निकल गया। कुछ दिनों बाद यह पता चला कि रायटर ने नोबेल पुरस्कार संबंधी जो खबर भेजी थी वह गलत थी। उस वर्ष किसी भी भारतीय को नोबेल पुरस्कार नहीं मिला।

एक दिन अचानक मैंने किसी एक बँगला दैनिक में एक विज्ञापन पढ़ा, जिससे पता लगा कि शरत्‌चंद्र की कहानी 'आँधारे आलो' का फिल्म तैयार हो चुका है और वह भवानीपुर के किसी एक सिनेमा-घर में दिखाया जायगा। पढ़ते ही पहली प्रतिक्रिया मेरे मन पर यह हुई कि वह सभी साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमियों की बहुत बड़ी विजय है। क्यों इस तरह की प्रतिक्रिया मेरे मन में हुई, क्यों मैंने इस ढंग से सोचा, साहित्यकारों की विजय का क्या कारण उसमें था—इन सब प्रश्नों पर तब मैंने न कोई विचार किया न तर्क। मुझे केवल लगा कि विजय हुई है; और वह विजय हम सब साहित्य-प्रेमियों की है, केवल शरत्‌चंद्र की ही नहीं—यह अनुभूति भी बिना किसी प्रयास के, सहज रूप में मुझे हुई। आज जब सोचता हूँ तब इस तरह की अनुभूति के कई कारण मेरे सामने आते हैं। एक तो यह कि तब फिल्मी क्षेत्र में साहित्य-कलाकारों की उपेक्षा आज की अपेक्षा कई गुना अधिक थी। वह 'निर्वाक् चित्रों' का जमाना 'टाकी' का प्रचलन तब नहीं हुआ था। फिल्मों में सस्ती मस्ती की जो कला आज भी खूब चलती है, तब उसका और भी अधिक बोलबाला था। किन्तु सिनेमा की लोकप्रियता तब भी काफी बढ़ चुकी थी। ऐसी हालत में चित्रपट द्वारा एक अच्छे साहित्यकार की रचना का प्रचार हो जाना, साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक सभी दृष्टियों से प्रसन्नता की ही बात थी। और तिसपर उस विशेष लेखक की रचना का फिल्मीकरण होना जो

अपने को अत्यंत प्रिय हो, स्वभावतः मेरे लिए बहुत बड़ी प्रसन्नता का कारण था।

जो भी हो, फिल्म के उद्घाटन के दिन मैं संध्या को निश्चित समय के एक घंटा पहले ही भवानीपुर के उस विशेष सिनेमा-घर में पहुँच गया। अपनी जेब के अनुसार एक बीचवाले दर्जे की टिकट खरीद कर मैं बड़ी उत्सुकता से फिल्म के प्रदर्शन की प्रतीक्षा में बैठा रहा। छोटा-सा सिनेमा-हॉल था, और भीड़ भी बहुत अधिक नहीं थी। हॉल में शोरगुल अधिक नहीं था। समय हो गया, पर 'शो' आरंभ नहीं हुआ। मेरी अधीरता बुरी तरह बढ़ती चली जा रही थी। समय हो जाने के प्रायः बीस मिनट बाद तक भी जब कुछ नहीं दिखाया गया, तब दर्शक मुझसे भी अधिक अधीर हो उठे। बच्चों ने कूकना शुरू कर दिया। मैं तो निराश होने लगा था—यह सोचकर कि फिल्म किसी भी समय दिखाया भी जायगा या नहीं।

इतने में सहसा सारे हॉल में तालियाँ गूंज उठीं। माजरा क्या है—यह देखने के लिए मैंने चारों ओर नजर दौड़ाई। देखा कि बाईं ओर वाले गलियारे से होकर शरत्चंद्र कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ तेज चाल से ऊपर 'बाल्कनी' की ओर चले जा रहे हैं। मेरी सारी निराशा पल में कपूर हो गई। साथ ही मैं सोचने लगा कि इस सिनेमाघर का इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है कि इतनी बड़ी विभूति ने यहाँ पाँव रखा है।

शरत्चंद्र के ऊपर बैठते ही 'शो' आरंभ हो गया। प्रारंभ में शरत्चंद्र को ही चित्रपट पर दिखाया गया। एक बार तो उन्हें अपनी किसी एक पुस्तक के पन्नों को उलटते हुए दिखाया गया, जिसमें संभवतः 'आँधारे आलो' शीर्षक 'लघु उपन्यास' भी

संकलित था। दूसरी बार उन्हें लिखते हुए दिखाया गया। पर जिस पहनावे में, जिस कमरे में, जिस ढंग से वह पढ़ या लिख रहे थे, उससे स्पष्ट था कि केवल फिल्म के लिए ही वह सब नाटक रचा गया है। और शरत् को सहज स्वाभाविक रूप से दैनिक चर्चा करते हुए नहीं दिखाया गया है। मेरे मन को एक हलका-सा धक्का लगा। मैं व्यक्तिगत रूप से जानता था कि शरत्चंद्र का रहन-सहन कैसा सीधा-सादा है और उसमें कृत्रिमता का लेश भी नहीं है। साथ ही यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम था कि सस्ते ढंग के प्रचार से वह चिढ़ते हैं। इस तरह के प्रचार के लिए किसी कृत्रिम उपाय का सहारा पकड़ने के लिए वह राजी हो सकते हैं, इस बात की कल्पना मैंने कभी नहीं की थी। इसलिए जब मैंने देखा कि चित्रपट द्वारा सिनेमा-दर्शकों के आगे आत्म-प्रचार के उद्देश्य से विशेष रूप से बनठन कर झूठमूठ में लिखने और पढ़ने का नाटक रचने के लिए वह तैयार हो गये, तब उनके व्यक्तित्व के प्रति मेरे श्रद्धा-भाव का पारा स्वभावतः कुछ नीचे उतर आया। यह मैं आज भी मानता हूँ कि यह प्रवृत्ति शरत् के स्वभाव के अनुकूल कदापि नहीं थी, और साथ ही यह भी जानता हूँ कि उनके भक्तों और मित्रों ने फिल्म के लिए वैसा नकली रूप धारण करने के लिए किस हद तक उन पर दबाव डाला होगा।

उसके बाद प्रधान चित्र का प्रदर्शन आरंभ हुआ। जहाँ तक मुझे याद है, उस फिल्म में प्रधान-नायक के रूप में बरुआ ने काम किया था। प्रधान नायिका कोई साधारण अभिनेत्री थी। कोई एक अच्छी कहानी फिल्म में ठीक तरह से उतर सकती है, इस बात पर मुझे आज भी विश्वास नहीं है। 'निर्वाक् युग' में तो इसकी संभावना और भी कम थी। फिल्म देखकर नहीं

निराशा हुई। केवल उसके प्रचारात्मक महत्त्व से संतोष करके मैं उठ खड़ा हुआ, और बाईं ओर वाले गलियारे में सीढ़ियों के पास जाकर खड़ा हो गया। तब भी मैं शायद कद में काफी लंबा था। शरत्चंद्र जब ऊपर से उतर कर नीचे आये तब सीढ़ी पर से उनकी दृष्टि सबसे पहले मेरे ही ऊपर पड़ी। मैंने अपने हाथों को जोड़कर पहले से अभिवादन की तैयारी कर रखी थी। सप्रेम, मंद-मंद मुस्कराते हुए वह बोले—"कहो, क्या खबर है? बहुत दिनों से दिखाई नहीं दिये!"

"अब जल्दी ही मिलूँगा," मैंने पुलकित भाव से कहा।

उसके बाद वह भीड़ में गायब हो गये।

दूसरे या तीसरे दिन मैं तीसरे पहर उनके घर जाकर उनसे मिला। दो आदमी पहले ही से उनके पास बैठे हुए थे। शरत्चंद्र उन लोगों को कुछ बता रहे थे। मुझे देखते ही बीच ही में बोले: "आओ, आओ, बैठो!" और फिर उन लोगों से बातें करने लगे। कुछ ही देर में मेरे आगे स्पष्ट हो गया कि उसी फिल्म की चर्चा चल रही है। दोनों सज्जन गद्गद् भाव से फिल्म की प्रशंसा कर रहे थे और शरतचंद्र उसकी खामियाँ उन्हें बता रहे थे। मैं शांतभाव से, ध्यानपूर्वक उनलोगों की बातें सुन रहा था।

कुछ देर बाद शरत्चंद्र ने मेरी ओर मुँह करके धीरे से पूछा, "तुम्हें फिल्म कैसा लगा, सच बताना।"

मैंने कुछ सकुचाते हुए, धीरे से कहा:—"किसी अच्छी साहित्यिक कहानी की 'स्पिरिट' को फिल्म में उसी खूबी से उतार लाने की कला बहुत कठिन है, जिसमें अभी तक कोई विदेशी फिल्म भी सफल नहीं हो पाया है। इसलिए किसी फिल्म की सफलता या असफलता पर उच्चकोटि की साहित्यिक कला के मान से विचार करना मेरी विनम्र सम्मति में उचित नहीं है।

इस मान से 'आँधारे आलो' के फिल्मी रूप पर विचार करने से स्वभावतः निराशा होगी। विचारना तो यह चाहिये कि हमारे देश के फिल्मी स्तर की निम्नता को देखते हुए 'आँधारे आलो' अपेक्षाकृत अच्छा बन पड़ा है या नहीं।"

"हाँ, तुम्हारा यह दृष्टिकोण भी कुछ गलत नहीं है," कुछ उदासीनता के साथ शरत् ने कहा।

मैंने कहा—"मुझे तो शिकायत कुछ दूसरी ही बात की है।"

"वह क्या ?" कुछ उत्सुकता से शरत्चंद्र ने पूछा।

"फिल्म-निर्माता ने आपकी 'आँधारे आलो' कहानी को ही फिल्म के उपयुक्त क्यों समझा ? आपकी बहुत-सी दूसरी कहानियाँ, जो साहित्यिक दृष्टि से भी इससे अच्छी हैं और फिल्म की दृष्टि से भी अधिक उपयुक्त हैं, क्यों उपेक्षणीय समझी गईं ?"

"क्या 'आँधारे आलो' साहित्यिक दृष्टि से भी तुम्हें नहीं जँचता ?"

"जँचता है," मैंने कुछ संकोच का अनुभव करते हुए कहा, "फिर भी उसमें आपकी कला का निखरा हुआ रूप नहीं मिलता। कहानी में अवास्तविकता, कृत्रिमता और अपरिपक्वता के सुस्पष्ट चिह्न मिलते हैं। मुझे लगता है कि यह कहानी आपने बहुत पहले आरंभिक प्रयास के युग में लिखी होगी।"

"नहीं, तुम्हारी यह धारणा एकदम गलत है। यह कहानी मैंने तब लिखी थी जब मेरे विचार परिपक्व हो चुके थे और मेरी लेखन-शक्ति पूर्णतया विकसित हो चुकी थी।"

"अच्छा !" मैंने अत्यधिक आश्चर्य से कहा। "मैं तो समझता था कि 'देवदास' से भी पहले आपने इसे लिखा होगा !"

"पर आज तुम्हें उसमें अपरिपक्वता और कृत्रिमता कहाँ

नजर आती है यह तो तुमने बताया ही नहीं" परीक्षक की सी गंभीरता में शरत्‌चंद्र ने कहा।

यह बताने के पहले कि मैंने उनके उस प्रश्न का क्या उत्तर दिया, मैं कहानी का सार पाठकों के आगे उपस्थित कर देना चाहता हूँ।

संपन्न परिवार का एक नवयुवक है, जो कलकत्ते में पढ़ता है। छुट्टियों में वह घर आया हुआ है। उसकी माँ इस चिन्ता में है कि उसका विवाह जल्दी ही हो जाय। वह पड़ोस की एक लड़की को अपने लड़के के लिए पसंद कर लेती है। पड़ोसिन खुशी से अपनी लड़की को उस घर में देने के लिए तैयार हो जाती है। पर नवयुवक अभी विवाह के चक्कर में नहीं पड़ना चाहता है। वह संकोची स्वभाव का है और लड़कियों से दूर भागता है। उसकी माँ चालाकी से एक दिन लड़की को अपने घर बुला लेती है और उसी के हाथ अपने बेटे के लिए उसके कमरे में जलपान भेजती है। जलपान के सिलसिले में लड़की दो बार उसके पास आती है। नवयुवक संकोच-वश उससे कुछ भी बात नहीं करता, केवल एक बार उसका नाम पूछ लेता है। लड़की बताती है कि उसका नाम राधारानी है। उस बार विवाह के चक्कर में फँसने से वह बच जाता है और फिर कलकत्ते चला जाता है। इस बार कलकत्ते लौटने पर कुछ ऐसा संयोग होता है कि एक युवती से अकस्मात ही उसका परिचय हो जाता है। नायक चोर बागान में रहता है और वहाँ से नित्य गंगा-स्नान करने जाता है। जिस परिचित घाट-वाले के यहाँ कपड़ा रखकर वह नहाने जाता है वहीं एक दिन बहुत ही सुन्दरी नवयुवती को वह देखता है। सुन्दरी उसे देखकर एक विचित्र ढंग से मुस्कराती है—तनिक भी नहीं सकुचाती।

उसके बाद प्रायः प्रतिदिन उस सुन्दरी से उसी घाट पर उसका मिलना होता है। सुन्दरी को देखने के लिए प्रतिदिन उसका मन विकल रहता है, इसलिए वह प्रतिदिन नियम से घाट पर पहुँच जाता है। युवती प्रतिदिन एक नौकरानी को साथ लेकर आती है। एक दिन नायक देखता है कि सुन्दरी अकेली है। युवक को देखते ही सुन्दरी बाँकी चितवन से उसकी ओर देखती हुई और मंद-मंद मुस्कराती हुई कहती है; "जल्दी नहा लीजिए। आज मेरी नौकरानी नहीं आ सकी, इसलिए आप ही को मुझे घर तक पहुँचाना होगा।" युवक इसे अपना परम सौभाग्य मानकर, अत्यंत प्रसन्न होकर कहता है; "मैं एक मिनट में आया।" किसी तरह जल्दी में दो डुबकियाँ मारकर वह घाट पर लौट आता है और जल्दी-जल्दी कपड़े बदल कर तैयार हो जाता है। "अब चलिये," वह सुन्दरी से कहता है। सुन्दरी गंगाजल की कलसी बगल में दबाये हुए धीरे-धीरे चलती है। रास्ते में वह युवक से पूछती है कि वह कहाँ रहता है। युवक बताता है कि वह चोर बागान में रहता है। "चोर बागान में क्या केवल चोर ही रहते हैं?" कहती हुई लड़की दुष्टतापूर्वक मुस्कराती है। वह भोला और भला आदमी पूछता है; "क्यों?" "आप भी तो चोर हैं, दूसरों के दिल को चुरा ले जाते हैं!" लड़की कहती है। सुनकर युवक के भीतर प्रेम का पागल प्रवाह बहने लगता है। इसी तरह की और भी बहुत-सी बातें दोनों के बीच होती हैं। तब से दोनों में घनिष्ठता हो जाती है। सुन्दरी प्रतिदिन घाट पर उसका इन्तजार करती है और दोनों साथ-साथ लौटते हैं। युवक उसके प्रेम में इस तरह [illegible] हो जाता है कि यह पूछने का विचार ही उसके मन में नहीं उठता कि वह कौन है, कहाँ रहती है, किसकी लड़की है, अकेली गंगा नहाने क्यों

आती है, आदि-आदि। सुन्दरी रास्ते में तरह-तरह की बातें उससे करती है। एक दिन वह युवक को बताती है कि पिछले दिन उसने एक नाटक देखा था। उस नाटक की कथा से युवक पहले ही से परिचित है। सुन्दरी लेखक की आलोचना करती है और एक कुटिल-प्रकृति पात्री का उदाहरण देकर कहती है कि यदि सभी के भीतर भगवान् निवास करते हैं तो उस स्त्री के भीतर भी क्यों ऐसा नहीं दिखाया गया? युवक सुन्दरी के मुख से इस प्रकार की गंभीर साहित्यिक आलोचना सुनकर चकित रह जाता है। सुन्दरी के मकान के दरवाजे तक पहुँच कर युवक लौट जाता है।

बीच में कुछ दिनों तक लगातार सुन्दरी घाट पर नहीं दिखाई देती। प्रेम में गले-गले तक डूबा हुआ युवक अत्यंत चिंतित और दुखी हो उठता है। एक दिन साहस करके वह उसके मकान के दरवाजे पर जाकर खड़ा हो जाता है। वहाँ उसे उसकी नौकरानी दिखाई देती है। अत्यंत कातर भाव से, रुँधे हुए गले से वह पूछता है, "उनकी तबीयत कैसी है? वह क्यों नहीं आतीं गंगा नहाने? कहाँ हैं वह?"

दासी अपनी हँसी को दबाने का पूरा प्रयत्न करती है। उसके बाद वह युवक को ऊपर ले चलती है। नीचे से ही किसी के पैरों में घुँघरुओं के बजने का शब्द साफ सुनाई देता है। भीतर प्रवेश करते ही युवक जो दृश्य देखता है उससे स्तब्ध रह जाता है। उसके इतने दिनों से परिचिता वही सुन्दरी, जो उस दिन प्रत्येक व्यक्ति के भीतर भगवान् के निवास की बात कह रही थी, दोनों पाँवों में घुँघरू बाँधे एक [illegible] के आगे नाच रही थी। उसकी आँखों की ललाई और हाव-भाव से पता चलता था कि वह शराब पिये हुए है। उपस्थित सज्जन

के सभी व्यक्ति भी नशे में चूर मालूम होते हैं। युवक को लगता है कि इतने दिनों से उसके अंतर में सुरक्षित और पूजित प्रतिमा सहसा चूर-चूर हो गई। वह निश्चेष्ट अवस्था में दरवाजे पर खड़ा का खड़ा ही रह जाता है। सुन्दरी उसे देखते ही कहती है, "भोंदू राम! तुम आ गये? आओ, आओ, बैठो! इस तरह मुझे क्या देखते हो? क्या समझा था तुमने मुझ को? रास्ते में चलते-फिरते तुम किसीसे प्रेम करने चले थे! अच्छे भोंदू निकले तुम!" कहकर वह खिलखिलाती है। उपस्थित मंडली भी अट्टहास कर उठती है। युवक को बताने के इरादे से सुन्दरी उसको लक्ष्य करके विद्यापति का यह प्रसिद्ध गीत गाती हुई नाचती है, "जनम अवधि हम रूप नेहारनु नयन ना तिरपित भेल।" युवक स्तब्ध, निश्चल, पाषाणवत् खड़ा रहता है। सुन्दरी, जो कि स्पष्ट ही एक वेश्या है, उसे इस तरह बेवकूफ बनाकर उपस्थित उन्मत्त मंडली का अच्छा मनोविनोद करती है। सहसा, बिना किसी प्रकट कारण के सुन्दरी का नशा उतर जाता है और वह अत्यंत गंभीर हो उठती है। बड़े चिंतित भाव से कहती है: "अरे आप इतनी देर से खड़े हैं, मैंने आपसे कुछ खाने के लिए भी नहीं पूछा। मैं लाती हूँ अभी आपके लिए नाश्ता।" युवक कहता है: "नहीं, मैं कुछ नहीं खाऊँगा।" "चाय तो पीजियेगा?" "नहीं, मैं इस मकान में पानी भी नहीं पीऊँगा।" "क्यों, मैं क्या कोई अछूत हूँ?" सुन्दरी पूछती है। "आप यदि अछूत होतीं तो दूसरी बात थी पर आप जो हैं वही हैं।" "देखती हूँ भोंदू लोग भी छुरी चलाना जानते हैं!" वह हँसती है, पर उस हँसी का खोखलापन साफ प्रकट हो जाता है। "अच्छा एक बार भीतर चलकर मेरा पुस्तकालय तो देख लीजिये, आपने उस रोज कहा था देखने के लिये।" "नहीं अब

मैं जाता हूँ यहाँ मेरा सिर भिन्ना रहा है।" "फिर कब आएँगे?" "कभी नहीं। "एक दिन आपको आना ही होगा।" "इस जीवन में कभी नहीं" कहकर युवक सीढ़ियों से होकर नीचे चला जाता है। सुन्दरी अनमनी-सी स्तब्ध खड़ी रह जाती है। "बिजली बाई, मुजरा फिर हो जाय!" नशे में चूर एक व्यक्ति बोल उठता है। "अब नहीं।" "क्यों?" "बिजली बाई अब सदा के लिये मर गई!" सुन्दरी उत्तर देती है।

उसके बाद उस युवक का विवाह राधारानी नाम की उसी लड़की से हो जाता है जो एक दिन उसे जलपान दे गयी थी। और एक दिन राधारानी एक बच्चे की माँ बन जाती है। उसी बच्चे से संबंधित किसी उत्सव के अवसर पर युवक अपने यहाँ वेश्याओं को नचाने का आयोजन करता है। उसी सिलसिले में वह बिजली बाई को भी बुलवाता है। पता चलता है कि बिजली बाई किसी तरह आना नहीं चाहती थी, पर दो सौ रुपये दिये जाने पर वह राजी हो गई। बिजली को यह भी पता नहीं था कि उसे किसने बुलाया है। युवक अपनी पत्नी (राधारानी) को सारी बातें बता देता है। राधारानी बिजली को अपने पास बुलाती है और कहती है, "बहन, इस बच्चे को आशीर्वाद दो। तुम्हारे ही कारण वह मुझसे विवाह करने को राजी हुए थे…" कहकर वह सब बातें बताती है।" "ओह समझी! तब उन्होंने मेरे अपमान का बदला लेने के लिए मुझे बुलाया है! पर इससे मेरा कोई अपमान नहीं हो सकता, उनसे कह देना बहन! मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ और तुम्हारे बच्चे को भी।" यह कह कर बिजली चली जाती है, महफिल में नहीं बैठती।

कहानी का सार मैंने अपनी स्मृति से लिखा है, पुस्तक इस समय मेरे पास नहीं है, इसलिए कोष्ठों के भीतर जो उद्धरण दिये

गए हैं उनमें शब्दों की भूल हो सकती है। पर भाव में तनिक भी अंतर नहीं है, यह मैं पाठकों को विश्वास दिलाता हूँ।

अब विचारणीय बात यह है कि बिजली बाई शराब के नशे में चूर होकर नाचते-गाते हुए जब युवक को बना रही थी तब बीच ही में सहसा उसका नशा बिना किसी नये कारण के क्यों हिरन हो गया, और वह गंभीर होकर कैसे अपने उसी रूप में आ गई जिसकी कल्पना उसके संबंध में इतने दिनों तक युवक के मन में थी? क्या एक क्षण में बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के किसी भी नारी में (विशेषकर उस नारी में जो शराब पिये हुए है और स्पष्ट ही शराब पीने की आदी है) इस प्रकार का मूलगत परिवर्तन संभव है? शरत् के प्रेमी पाठकों की ओर से संभवतः इस प्रश्न का यह उत्तर होगा कि वास्तव में बिजली बाई युवक को अंतर से चाहती थी, पर शराब के नशे में वह भूल गई थी कि वह उसे चाहती है। शराब का नशा अवचेतना में निहित किसी भी कारण के उभर आने पर टूट सकता है और नशा टूटते ही उसके मन में फिर यह अनुभूति जगी कि वह युवक को चाहती है। यह तर्क संगत लग सकता है, पर सचाई यह है कि यह जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर है। पाठकों से यह बात छिपी नहीं होगी कि शरत्चंद्र स्वयं मदिरा की मादकता के अच्छे अनुभवी थे। एक दिन स्वयं उन्होंने मुझे बताया था कि मदिरा के सेवन से व्यक्ति के भीतर का वास्तविक रूप परिस्फुट हो उठता है, और अंतर की यथार्थ अनुभूति सामने उभर आती है। ऐसी हालत में यदि बिजली वास्तव में युवक को चाहती थी और यह अनुभव करती थी कि उसके आगे उसका गंभीर

---

* बंगला में 'बाई' शब्द से साधारणतः वेश्या का बोध होता है। —लेखक

ही रूप प्रकट होना चाहिये, बाजारू रूप नहीं, तो मदिरा की मादकता में वह अनुभूति और अधिक गहरी हो जानी चाहिये थी। और यह तो किसी भी तरह संभव नहीं हो सकता कि उस हालत में वह यह भूल जाती कि युवक को वह चाहती है और उसका नर्तकी का रूप उसे कभी पसंद नहीं आ सकता। वह केवल इतना ही नहीं भूलती, बल्कि यह जानते हुए भी कि युवक किस आकुलता से पहली बार उसके घर आया है, उसे उलटे अपने प्रेमिकों के आगे बनाने लगती है। और फिर सहसा, बिना किसी कारण के, उसकी पूर्वजन्म की-सी स्मृति उभर जाती है और वह गंभीर बनकर स्नेह और सम्मान के साथ युवक से बातें करने लगती है।

इस प्रकार सारी कहानी एकदम अमनोवैज्ञानिक और अवास्तविक सिद्ध होती है। शरत्चंद्र के प्रश्न के उत्तर में मैंने यही बात अपने तर्कों सहित बताई। कुछ क्षणों तक वह गंभीर भाव से सोचते रहे। उसके बाद बोले, "पर तुम यह आशा क्यों करते हो कि औपन्यासिक सत्य जीवन के सत्य के बिलकुल अनुरूप ही होना चाहिये? क्या तुम यह चाहते हो कि उपन्यास जीवन का फोटो बनकर रह जाय? जो सम्भाव्य सत्य है उसके लिए भी उपन्यास या कहानी में गुंजाइश रखनी ही होगी। और फिर किसी विशेष आदर्श को उपस्थित करने के लिए यदि यथार्थ को तोड़ना-मरोड़ना भी पड़े तो इसमें कोई अनौचित्य मैं नहीं मानता।"

मैंने कहा—"आदर्श का कोई विरोध मैं नहीं करता। मैं स्वयं आदर्शवादी कला का पक्षपाती हूँ। और न मैं यही मानता हूँ कि कोई उपन्यास या कहानी जीवन का फोटो होना चाहिये। पर जो आदर्श यथार्थ के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं होता, आज

के जीवन में उसका कोई मूल्य मानने को मैं तैयार नहीं हूँ। जब तक कोई आदर्श जीवन की सच्चाई पर आधारित नहीं होता तब तक वह व्यक्ति या समाज के प्राणों के भीतर प्रवेश नहीं कर सकता और कोरी हवाई कल्पना बनकर रह जाता है। यही कारण है कि रूस के आदर्शवादी कलाकारों ने यथार्थ को बड़ी ही बारीकी से अपनाया है। टालसटाय के आदर्शवाद के संबंध में किसी को कोई शंका नहीं हो सकती। पर यह होने पर भी उन्होंने प्रत्यक्ष जीवन की सच्चाई को, यथार्थवादी दृष्टिकोण को बड़ी सूक्ष्मता से अपनाया था। मैं जोला की कोटि के प्रकृति-वादी (नेचुरेलिस्ट) कलाकारों की कला को विशेष महत्त्व नहीं देता, जो जीवन के अच्छे और गन्दे सभी पहलुओं का तद्वत् चित्रण कर देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं और उस चित्रण को किसी आदर्श की स्थापना के लिए साधन न मानकर अपने आप में साध्य मानते हैं। पर आदर्श की स्थापना के लिए जीवन की सच्चाई पूर्णतः आवश्यक है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है।"

मेरी बात शरत्चंद्र को किसी कारण से अच्छी नहीं लग रही थी, यह मैं उनके मुख के भाव से स्पष्ट देख रहा था। फिर भी उन्होंने शान्त भाव से कहा—"तुम्हारे 'दृढ़ विश्वास' को खंडित करने की प्रवृत्ति इस समय मुझ में नहीं जग रही है और न कोई उपयुक्त तर्क ही तुम्हारी बात के खंडन के लिए इस समय मुझे सूझ रहा है। पर इतना मैं तुम्हें फिर बता दूँ कि यथार्थवादी लेखकों के 'टेकनीक' को मैं कभी नहीं अपनाऊँगा। वह मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं पड़ता। और न वह उस जीवन के चित्रण और उस आदर्श की स्थापना के लिए उपयुक्त है जो मुझे अभीष्ट है।"

सुनकर मैं निरुत्तर हो गया। मैं उत्तर दे सकता था, पर यह सोचकर चुप रह गया कि मेरी बात से अब अप्रियता बढ़ने की ही संभावना अधिक है।

हम दोनों को चुप देखकर उपस्थित सज्जनों में से एक बोल उठे, "कुछ समय पूर्व 'आँधारे आलो' की बहुत प्रशंसात्मक आलोचना 'टाइम्स' के 'लिटरेरी सप्लीमेन्ट' में निकली थी। इससे स्पष्ट है कि विदेशी आलोचक भी उसके 'टेकनीक' को पसन्द करते हैं।"

मैं रह न सका। बोला, "जी नहीं, आप भ्रम में हैं। वह आलोचना किसी आलोचक की नहीं थी। वह एक अँगरेज सिविलियन की सम्मति थी, जो भारत में किसी उच्च सरकारी पद पर नियुक्त था। वह कोई आलोचक नहीं है, वह केवल बँगला पुस्तकों का अच्छा पाठक है। उसने अपनी 'सिविलियन' समझ के अनुसार उसे परखा है, और उसकी शैली का नयापन उसे पसन्द आया है। पर मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि वह कोई बड़ा या मान्य साहित्य-कला-विशेषज्ञ है। और फिर किसी भी विदेशी लेखक के मत को निर्विवाद रूप से महत्त्वपूर्ण मान लेने को मैं परमुखापेक्षिता या दासमनोवृत्ति का परिचायक मानता हूँ।"

शरत्चंद्र ने भी यह स्वीकार किया कि 'टाइम्स' के 'लिटरेरी सप्लीमेन्ट' में जिस अँगरेज ने 'आँधारे आलो' की प्रशंसा की थी वह वास्तव में न कोई लेखक है न आलोचक। उन्होंने यह भी बताया कि उसने [illegible] की प्रशंसा 'आँधारे आलो' से कहीं अधिक की है। इसके बाद उस दिन फिर किसी दूसरे विषय की चर्चा जमी नहीं और मैं सबको नमस्कार करके विदा हुआ।

५

जब शरत्चंद्र बरमा से कलकत्ते आये थे तब अपने साथ वह एक कुत्ता भी लाये थे। जब लाये थे तब वह बहुत छोटा था, ऐसा उन्होंने मुझे बताया था। पर बाद में वह बहुत बड़ा हो गया था और एक खूँखार—किंतु बहुत ही बदसूरत—भेड़िये की तरह दिखाई देता था। उसका नाम भी उन्होंने बहुत ही विचित्र रखा था: भेलू। मैं जब पहले दिन उनसे मिलने गया था तब वह मुझ पर इस बुरी तरह बिगड़ा था कि लगता था जैसे मुझे फाड़कर खा जाना चाहता हो। शरत्चंद्र ने जब बार-बार उसका नाम लेकर आवाज से और आँखों से उसे डाँटा तब वह कुछ शांत हुआ। उस दिन मैंने कुत्ते के संबंध में उनसे कुछ नहीं कहा। उसके बाद कई बार शरत्चंद्र के यहाँ मेरा आना-जाना हुआ। कुछ दिनों तक तो भेलू मुझ पर उसी भयंकर रूप से गुर्राता रहा, बाद में उसने गुर्राना छोड़ दिया, किंतु भूँकना फिर भी बन्द नहीं किया।

१९२३ के क्रिसमस सप्ताह में एक दिन जब मैं फिर शरत्चंद्र के यहाँ उपस्थित हुआ तब फिर भेलू भूँकने लगा। उस दिन वह कुछ अधिक शक्ति खर्च करके भूँक रहा था। शरत् को उस दिन भी उसे शांत करना पड़ा। जब हम दोनों भीतर इतमीनान से बैठ गये तब मैंने तनिक खीझ के-से स्वर में कहा: "ऐसा खूँखार कुत्ता अपने पास रखने में आपको क्या मजा आता है? आपके पास कुछ ऐसी विशेष संपत्ति भी तो नहीं है कि चोरों से अपनी रक्षा करने की आवश्यकता आपको आ पड़ी हो!

इसकी उपयोगिता तो मैं केवल इतनी ही देखता हूँ कि कोई भला आदमी यदि आपसे मिलना चाहे तो बेचारे को इस कुत्ते के कारण व्यर्थ में परेशान होना पड़ता है !"

मेरी खीझ देखकर शरत्चंद्र के मुँह पर एक दुष्टता-भरी मुस्कान फैल गयी। उस मुस्कान को बरबस दबाने का प्रयत्न करते हुए, उसमें तनिक गंभीरता का पुट मिलाते हुए उन्होंने कहा : "भले आदमियों को तो यह कुत्ता तनिक भी परेशान नहीं करता !"

मैं मन-ही-मन कुछ कट-सा गया। फिर भी बाहर से अपने को शांत बनाये रखने का कृत्रिम प्रयत्न करता हुआ बोला, "तो आपकी नजर में मैं कोई भला आदमी नहीं हूँ ! अर्थात् आप यह नहीं चाहते कि मैं अक्सर आपके पास आकर आपका अमूल्य समय नष्ट करूँ ! और संभवत: मेरे ही जैसे लोगों को दूर ही से टरकाने के उद्देश्य से ही आपने यह कुत्ता पाला है !"

"अरे, तुम तो सचमुच नाराज हो गये !" बड़े प्रेम से मुस्कुराते हुए शरत् ने कहा। "जरा शांत हो जाओ तो तुम मेरी बात का ठीक आशय समझ जाओगे।"

मैं प्रश्न-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखता रहा। वह कहते गये, "तुमने जो अनुमान लगाया उसमें आधी सचाई है। वास्तव में इस कुत्ते से मेरा इतना काम तो सध ही जाता है कि बहुत से ऐसे लोगों का मेरे पास आना रुक जाता है जो मुझे किसी भी हालत में प्रिय नहीं लग सकते और जो सचमुच में मेरा समय नष्ट कर सकते हैं और व्यर्थ में मेरा दिमाग चाटने के सिवा और कोई कृपा मुझ पर नहीं कर सकते। पर तुम ऐसे लोगों में नहीं हो। भेलू भी इतना जानता है ! वर्ना जो नकली रूप उसने तुम्हें दिखाया—जिसे देखकर तुम सचमुच

डर गये—वह यदि उसका सच्चा रूप होता तो मेरे लाख मना करने पर भी वह तुम्हें न छोड़ता, और उसके न छोड़ने का अर्थ यह है कि तुम इस समय यहाँ मेरे पास न होते। तुम्हें सीधे अस्पताल पहुँचाना पड़ता और वहाँ भगवान् ही तुम्हारा सहायक होता !"

मैं उनकी बात सुनकर आतंकित हो उठा। पर सच तो यह है कि अभी तक उनकी बात मेरी समझ में ठीक से आयी भी नहीं थी। मैंने कहा: "अगर यह उसका नकली रूप था तो असली रूप उसका क्या हो सकता है उसकी कल्पना करने में भी मुझे भय मालूम होता है !"

"हाँ, सच, यह उसका नकली रूप था," इस बार पूरी गंभीरता के साथ, बिना तनिक भी व्यंग के शरत् ने कहा, "अभी तक तुमने कोई कुत्ता पाला नहीं, इसीलिये तुम्हें मेरी बात सुनकर कुछ अविश्वास और कुछ आश्चर्य हो रहा है। कोई भी अच्छी जात का पालतू कुत्ता एक नकली मुखड़ा रखता है। बहुत बड़ी आवश्यकता—बड़ा संकट—आने पर ही वह अपने उस मुखड़े को उतारता है। कुत्ता प्यार में भी क्रोध का भाव जताता हुआ भूँकता है, इस सत्य से केवल वे ही लोग परिचित होते हैं जो कुत्ते को प्यार कर चुके हैं और उसका प्यार पा चुके हैं। तुमसे भेलू नाराज नहीं था—नाराज हो नहीं सकता था। मैं जानता हूँ, मेरी इस बात पर विश्वास करने में तुम्हें अभी काफी कठिनाई महसूस होगी। पर है यह बात पक्की—प्रमाण-सिद्ध और अनुभव-सिद्ध। तुमसे वह केवल खेल रहा था। भला तुम जैसे दुबले-पतले, गोरे-उजले, निरीह नवयुवक से वह क्या नाराज होता ! कुत्ता आदमी को आदमी से अधिक पहचानता है, मेरी यह बात तुम गाँठ बाँध लो। यह न

समझना कि मैं जिस तरह अपनी कहानियों और उपन्यासों में मनुष्य के मन की बातें जानने और उनका ठीक-ठीक विश्लेषण करने का 'ढोंग रचता' हूँ (मेरे कुछ विरोधी आलोचकों ने इसी तरह की बात मेरे संबंध में कही है) उसी तरह मैं कुत्ते के मनोविज्ञान का ज्ञान बघार रहा हूँ। पर यदि मैं यह 'पोज' भी करूँ कि मैं कुत्ते के मन की बातें बता सकता हूँ तो ऐसा करने का मुझे अधिकार तो है ही। यह अधिकार मुझे इसलिये प्राप्त है कि मैं इतने वर्षों तक एक कुत्ते के निकटतम संसर्ग में रहा हूँ, उसे मैंने प्यार किया है और उसका प्यार पाया है। और, प्यार ही किसी के मन के निगूढ़ रहस्यों को उघाड़ने की कुंजी है। मैं पागल प्यार की बात नहीं कहता, बल्कि उस सहज प्यार से मेरा आशय है जिसमें 'सह-अनुभूति' और 'सम-वेदना' वास्तविक—शाब्दिक—अर्थ में निहित रहती है। यह बात सदा के लिये जान लो कि कोरे वैज्ञानिक विवेचन से तुम किसी के मन के एक कण का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकोगे, पूरे मन की थाह पाना तो बहुत दूर की बात रही। हाँ, तो मैं कह रहा था कि भेलू तुमसे नाराज नहीं था, वह केवल तुम्हें बना रहा था—मेरी इस बात पर विश्वास करो चाहे न करो। जिस ढंग से और जिस स्वर में वह तुम पर भूँक रहा था उसे देखते ही मेरे मन में तनिक भी संशय नहीं रह गया था कि वह तुम्हें बना रहा है। केवल आज ही नहीं, पहले भी तुम जब-जब आये तब-तब मैंने गौर किया है कि तुम्हें देखते ही तुम्हें बनाने की अदम्य प्रवृत्ति उसमें बरबस जग उठी है। और, तुम जैसे निरीह लड़के को बनाने में क्या सुख है यह मैं स्वयं अपने अनुभव से जानता हूँ!" कहकर शरत्चंद्र सहसा खुलकर हँस पड़े। ऐसे हँसे कि उनकी आँखों

की पलकें गीली हो आयीं। मैं मूर्खों की तरह उनकी ओर चुपचाप देखता ही रह गया। भीतर-ही-भीतर बुरी तरह झेंप रहा था और मेरी खीझ भी बढ़ती जाती थी। आज शरत्चंद्र एक विचित्र ही 'मूड' में थे, जिसे मैं ठीक से समझ नहीं पा रहा था। जब उनकी हँसी का दौर समाप्त हुआ तब वह आँखें पोंछते हुए बोले, "माफ करना भाई, कहीं फिर नाराज न हो जाना। मेरी हँसी को ध्यान में न लाना (कहकर वह फिर हँसने ही जा रहे थे कि उन्होंने बरबस अपने को रोका—ऐसा मुझे लगा)। सचमुच तुम बहुत ही भोले और भले हो—'प्युअर गोल्ड' मैं कहूँगा।" और यह कहते हुए एक स्नेह-सजल भाव उनकी आँखों में आ गया। इस बार उनके मुख पर परिहास का लेशमात्र चिह्न भी नहीं था।

मेरी झेंप बढ़ती ही चली जा रही थी—यद्यपि सारी खीझ धुल गयी थी। उस अनावश्यक झेंप को झाड़ने के उद्देश्य से मैंने विषय को बदलना चाहा और मनोविज्ञान के संबंध में उनकी अधूरी बात का सूत्र पकड़ता हुआ बोला: "अभी आप कह रहे थे कि कोरे वैज्ञानिक विवेचन से किसी के मन के एक कण का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तब क्या आपकी राय में मनस्तत्त्व के क्षेत्र में उन नये खोजियों द्वारा उपलब्ध ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं है, जो तथाकथित वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अवचेतना के निगूढ़ रहस्यों का पता लगा रहे हैं?"

"जैसे?"

"जैसे फ्रायड को ही लीजिये, मनुष्य की अन्तश्चेतना और उसके चक्रजालों के संबंध में वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है उसके बारे में आपका क्या मत है?"

"मैं अभी फ्रायड (शरत्चंद्र ने उस समय उसका उच्चारण

'फ्रॉड' किया था) के सिद्धान्तों का अध्ययन ठीक से नहीं कर पाया हूँ" इस बार काफी गंभीर होकर शरत्चंद्र ने कहा, "अध्ययन करने की बड़ी इच्छा है, क्योंकि मैंने उसके नये सिद्धांतों की चर्चा कई पुस्तकों में पढ़ी है। पर अभी तक मुझे उसकी अपनी लिखी कोई पुस्तक—अंगरेजी अनुवाद के रूप में—प्राप्त नहीं हो सकी है। कालेज स्कायर में अपने परिचित पुस्तक-विक्रेताओं से मैंने पूछा था, उनका कहना है कि उनके यहाँ भी अभी तक फ्रायड की कोई पुस्तक नहीं आयी।"[1]

मैंने उनसे कहा कि वे विशेष ऑर्डर देकर विलायत से मँगाएँ।

"तुम्हारे पास कोई किताब है क्या इस विषय की ?"

मैंने कहा "किताबें तो मेरे पास इस विषय की बहुत-सी हैं, जिनमें फ्रायड के सिद्धांतों की केवल चर्चा ही नहीं की गयी है, बल्कि किसी हद तक उनपर विवेचन भी किया गया है। पर स्वयं फ्रायड की लिखी किताबें मेरे पास भी नहीं हैं—केवल एक को छोड़कर, जो फ्रेंच अनुवाद है और गुदड़ी में मुझे संयोग से मिल गयी थी।"

"तुम क्या फ्रेंच समझ लेते हो ?" कुछ आश्चर्य से शरत ने पूछा।

"अभी थोड़ा-सा अभ्यास किया है। फ्रायड को समझने के लिये बार-बार कोष की सहायता लेनी पड़ती है। पर इस बहाने मेरा फ्रेंच-ज्ञान कुछ-न-कुछ बढ़ता ही जाता है।"

"अच्छा है। तुम्हें यह अच्छी सुविधा मिल गयी है। कुछ पुस्तकें मेरे पास भी हैं, जिनमें फ्रायड के सिद्धांतों की चर्चा की

---

1 यह बात सन् १९२३ की है, इसका [illegible] दिखाना चाहता हूँ।

गयी है। पर उनसे विशेष सहायता नहीं मिलती। तुम अपनी कुछ पुस्तकें मुझे देते जाना, मैं अभी हेवलाक एलिस तक ही पहुँचा हूँ। सेक्स संबंधी बहुत-सी नयी बातें उसने बतायी हैं—कुछ ऐसे नये सिद्धांत खोज निकाले हैं जिन पर आज तक प्रकाश नहीं पड़ा था। मैंने सुना है कि फ्रायड पर भी हेवलाक एलिस का प्रभाव पड़ा है।"

"हाँ, स्वयं फ्रायड ने यह बात स्वीकार की है।"

"पर सच पूछो तो मुझे तो यह सारा चक्कर बड़ा गंदा लगता है। ये नये सेक्स-शास्त्रीगण केवल कीचड़ और गंदगी को उलीच-उलीचकर कौन-सा नया ज्ञान संसार को दे देंगे!"

"यह ठीक है," मैंने कुछ और अधिक गहराई में सोचने की-सी मुद्रा में कहा। "गंदगी में केवल गंदगी के लिये रस लेने के समान विकृति कोई दूसरी नहीं हो सकती। पर दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो गंदगी जीवन के स्वस्थ बीजों के लिये पोषक खाद भी सिद्ध हो सकती है।"

"पर ऐसा भी तो संभव है," जैसे किसी अज्ञात आशंका से प्रेरित होकर शरत्चंद्र ने कहा, "कि खाद इतनी अधिक जमा हो जाय कि बीज को ही दबा बैठे!"

"हो सकता है। यह स्थिति बहुत ही खतरनाक सिद्ध होगी।" कहकर मैं क्षण-भर के लिये मौन रहा। उसके बाद सहसा एक प्रश्न कर बैठा :

"क्या भावी साहित्य फ्रायड के सिद्धांतों से किसी कदर प्रभावित होगा? आपका क्या ख्याल है?"

"मेरा तो ऐसा ख्याल है कि पाश्चात्य साहित्य पर उसका प्रभाव किसी हद तक पड़ भी चुका है।"

"ऐसे साहित्य से आप क्या किसी कल्याण की आशा नहीं करते ?"

"मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि अभी तक मैं फ्रायड के सिद्धांतों का अध्ययन ही ठीक से नहीं कर पाया हूँ। पर जो आभास उनके संबंध में मेरी अंतःप्रज्ञा को मिला है उसमें कुछ ऐसा लगता है कि जीवन की समस्याओं को सुलझाने में कोई बड़ी सहायता उनसे नहीं मिलेगी।"

"आपको तो आलोचकों ने मनस्तत्त्व-संबंधी सिद्धांतों का विशेषज्ञ बताया है। आपके उपन्यासों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह बतायी जाती है कि मनोवैज्ञानिक सत्यों का जैसा उद्घाटन आपने उनमें किया है वैसा आज तक के किसी दूसरे भारतीय उपन्यासकार ने नहीं किया है। तब यदि फ्रायड मनोविज्ञान को कुछ कदम और आगे बढ़ा ले जाता है तो आप ऐसा क्यों नहीं सोचते कि उसके अध्ययन से आपको मानव-जीवन के विवेचन और विश्लेषण में और अधिक सुविधा प्राप्त होगी ?"

शरत्चंद्र के मुख पर अविश्वास-भरी मुस्कान झलक कर तत्काल विलीन भी हो गयी। "तुम क्या सचमुच यह समझते हो" उन्होंने दया-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा, "कि मैंने अपने उपन्यासों में मनुष्य के मन के जिन रहस्यों का थोड़ा-बहुत उद्घाटन किया है वह मनोविज्ञान-संबंधी पुस्तकों के सहारे किया है ?"

"न, मैं किसी भी हालत में इस तरह की बात नहीं सोच सकता। मैं आप ही के कथनानुसार 'भोला' (अर्थात् मूर्ख, कहते हुए मैं दुष्टतापूर्वक मुस्कराया) अवश्य हूँ, पर इस हद तक नहीं कि इतनी मोटी बात भी न समझ सकूँ कि कोई भी

कवि या कथाकार जीवन के रहस्यों का उद्घाटन किसी 'गाइड बुक' की सहायता से नहीं, बल्कि अपनी अन्तर्दृष्टि से प्रेरित होकर करता है।"

"तब यह जानते हुए भी, तुम ऐसा क्यों सोचते हो कि फ्रायड या और किसी मनोविज्ञानवेत्ता के सिद्धांतों के अध्ययन से मुझे या किसी दूसरे कथाकार को मानव-जीवन के विवेचन और विश्लेषण में अधिक सुविधा प्राप्त हो सकेगी ?"

"आपके प्रश्न के उत्तर में पहली बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं स्वयं ऐसा सोचता नहीं; मैंने केवल एक संभावना की ओर संकेत किया था और उसके संबंध में आपका क्या अनुमान है यह जानना चाहा था। अभी तो यही प्रमाणित नहीं हो पाया है कि फ्रायड ने प्रचलित मनोविज्ञान को कुछ कदम आगे बढ़ाया या पीछे हटाया है। तर्क के लिये यह मान लिया जाय कि वह कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक सत्यों का आविष्कार कर चुका है या कर रहा है जो आज तक प्रकाश में नहीं आये थे। तब उस हालत में क्या यह संभव नहीं है कि नये युग के कथाकारों को जीवन के रहस्यों पर प्रकाश डालने, मन की गुत्थियों को सुलझाने के उद्देश्य से एक नया दृष्टिकोण, एक नया 'एप्रोच' प्राप्त हो जाय ? अपने पात्रों की भावनाओं और मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया का विश्लेषण तो प्रत्येक प्रतिभाशाली कवि, नाटककार या कथाकार अपनी अन्तर्दृष्टि और अन्तर्ज्ञान के प्रकाश में करता ही रहता है। बहुत प्राचीन काल से ऐसा होता आया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कोई आज ही युग की चीज नहीं है। शेक्सपीयर ने अपने पात्रों का जैसा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है वैसा दूसरा कोई क्या करेगा ? पर प्रश्न है दृष्टिकोण, 'पर्सपैक्शन' और 'एप्रोच' का। मानव-मन के रहस्यों का बहुत

बड़ा ज्ञाता होने पर भी शेक्सपीयर ने जीवन को समझने के लिये जो दृष्टिकोण या 'एप्रोच' हमारे सामने रखा यदि उसी को हम जीवन का चरम सत्य मान लें तो जीवन विध्वंस, विनाश, विद्वेष, भय, घृणा के तत्त्वों के एक विराट स्तूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम होगा, जिसके नीचे प्रेम और शांति के अतिस्वल्प परमाणु अत्यंत उपेक्षित रूप में दबे या बिखरे पड़े हैं, जिनके उद्धार की कोई संभावना नहीं है। पर आज यह दृष्टिकोण न आपका है, न कोई दूसरा जीवन-द्रष्टा इस तरह की बात सोच सकता है। किंतु साथ ही इस तथ्य को भी आप अस्वीकार नहीं कर सकते—आपने कभी किया नहीं—कि प्रेम, शांति और कल्याण के बीज विद्वेष, घृणा, भय और विनाश के प्रकट या सुप्त तत्त्वों के भीतर बुरी तरह दबे या छिपे पड़े हैं। प्राचीन काल से लेकर आज तक सभी भारतीय ऋषियों, कवियों और कलाकारों का यह विश्वास रहा है कि मानवता के भीतर निहित प्रेम के तत्त्वों का उद्धार एक-न-एक दिन अवश्य होकर रहेगा और जीवन की प्रगति का वास्तविक लक्ष्य ही यही है। पर वह विश्वास अभी तक कार्यरूप में परिणत नहीं हो पाया है। गांधी जी के प्रेम और अहिंसा संबंधी प्रयोगों का कोई प्रभाव उन 'महाशक्तियों' पर नहीं पड़ रहा है जिनकी रक्त की प्यास प्रथम महायुद्ध की विश्वव्यापी दानव-लीला के बाद भी नहीं बुझी है और जो निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव पर युद्ध की समाप्ति के बाद से बहस करते रहने पर भी अपनी सैनिक शक्ति निरंतर बढ़ाते चले जा रहे हैं। उनका श्मशान वैराग्य समाप्त हो चुका है। स्वयं हमारे ही देश में गांधी जी के अहिंसात्मक असहयोग के उत्तर में ब्रिटिश राजसत्ता की बर्बरता घटने के बजाय और अधिक प्रचंड होती चली जा

रही है। यह तो हुई सामूहिक प्रवृत्तियों की बात। व्यक्तिगत जीवन में मानव-मन की नीच प्रवृत्तियाँ परिष्कृत होने के बजाय निरंतर किस तरह अधिकाधिक वेग से उभरती चली जा रही हैं, इस तथ्य से आप स्वयं अपने व्यापक अनुभवों के कारण जिस हद तक परिचित हैं उस हद तक शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति परिचित हो। उन नीच प्रवृत्तियों को दूर करने का उपदेश आपने भी दिया है, दूसरे लेखक या कवि भी बराबर देते चले आये हैं। पर क्या आप समझते हैं कि उपदेशों का कोई प्रभाव मानवता पर पड़ा है या पड़ रहा है? मुझे तो इस तरह के कोई लक्षण नहीं दिखायी देते। इसीलिये आज अत्यंत गंभीर रूप से यह सोचने की आवश्यकता आ पड़ी है कि हमारे मनीषियों की विचार-धारा में, कला में या कलात्मक 'एप्रोच' में त्रुटि कहाँ पर रह गयी है। अपने बहुत ही छोटे जीवन के अनुभवों के फलस्वरूप मैंने इस विषय में जो कुछ सोचा है उससे मुझे लगता है जब तक तथाकथित 'सभ्य' मानव-जीवन की पिटी-पिटायी परंपरा के मूल में भीतर से और बाहर से आघात न किया जाय तब तक मानवता किसी वास्तविक और स्थायी परिवर्तन की ओर एक भी कदम नहीं उठा पायेगी। इस मूलगत आघात के दो रूप हमारे सामने आये हैं, जो अभी प्रारंभिक अवस्था में हैं और जिनकी दीर्घ परीक्षा अपेक्षित है...''

मैं अकस्मात् इस कदर मुखर हो उठा था कि मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा था। अपनी बहुत दिनों से सोची हुई बात का बाँध टूट जाने पर मैं उसके प्रवाह में इस तरह बह गया था कि किस व्यक्ति के आगे किस ढंग से और किस स्वर में बात कर रहा हूँ, यह एकदम भूल ही गया। अपनी दांभिकता-भरी बातों के लिये शरत्चंद्र से इसके पहले दो-तीन बार मीठे व्यंग-

भरी चुटकियाँ भी मैं पा चुका था, पर उनकी भी कोई याद उस समय मुझे न रही। उस दिन मैंने उनको जो कुछ कहा उसका एक-एक शब्द अग्नि के-से अक्षरों में अभी तक मेरे भीतर खुदा है, और जिस जोश-भरी मुद्रा में ये सब बातें मैंने उनसे कहीं उसकी याद करके आज लज्जित होने के साथ ही पुलकित भी हो उठता हूँ।

शरत् अत्यन्त गम्भीर और मौन भाव से, एकांत ध्यानपूर्वक मेरे छोटे मुँह से निकली हुई बड़ी बातें सुन रहे थे। उनसे अच्छा श्रोता मुझे जीवन में फिर शायद ही कोई दूसरा मिला हो। जहाँ तक मुझे याद है, उस दिन किसी कारण से उनका हुक्का ठंढा पड़ा हुआ था और वह बार-बार 'इम्पीरियल' सिगरेट के टिन से एक-एक सिगरेट निकालते हुए 'चेन स्मोकिंग' करते चले जा रहे थे।

जब मैंने दृढ़ता के साथ अंतिम बात कही और क्षण-भर के लिये दम लेने के इरादे से रुका तब उनका मुँह खुला :

"वे दो रूप क्या हैं, यह जानने के लिये मैं उत्सुक हूँ।"

पता नहीं क्यों, मुझे लगा जैसे उनके प्रश्न के भीतर व्यंग का एक अत्यंत अस्पष्ट पुट निहित है। आज सोचता हूँ कि संभवतः मेरा ऐसा सोचना भ्रम था।

मैंने कहा : "एक रूप तो है मार्क्स प्रणोदित लेनिनवाद, जो संसार की शताब्दियों से प्रचलित अस्त-व्यस्त, असामंजस्यपूर्ण और स्वतः विरोधी व्यवस्थाओं पर बाहर से निर्मम हथौड़े चलाता हुआ, अपने मूलतः नये आदर्शों और सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देता हुआ, एक विश्वव्यापी सम-व्यवस्था की स्थापना की ओर सचेष्ट है। दूसरा रूप है फ्रायड का नया मनोविश्लेषण-विज्ञान, जो भीतर से युग-युगव्यापी बूर्जुआ नैतिक आदर्शों की ज़मीन पर धम-धम फावड़े चलाता हुआ, उसपर

एकदम नये मानसिक बीजों का रोपण करता हुआ, एकदम नयी खाद से उन बीजों का पोषण करने की ओर सचेष्ट है। इस प्रकार बाहर और भीतर से दो मूलतः नयी चक्र-क्रियाएँ प्रगति के संबंध में एक नया ही दृष्टिकोण, एक नया ही मोड़ मानवता को देने का दावा कर रही हैं। अभी इन क्रांतिकारी प्रयोगों की अग्नि-परीक्षा नहीं हुई। मेरा ऐसा विश्वास है कि अपनी अंतिम अग्नि-परीक्षा देने के पूर्व, नये-नये अनुभव और नये-नये विरोधों और अवरोधों के संघर्ष में आने के फलस्वरूप, दोनों को नये-नये रंग बदलने होंगे; प्रतिवर्ष जो फसल तैयार होगी उसमें काट-छाँट करके नये-नये विकास-तत्त्व जोड़ने होंगे। और इस प्रकार कटते-छँटते, बदलते और बढ़ते हुए दोनों का एक व्यापक, विकसित और सम्मिलित रूप सामने आयेगा। उस नवीन विकसित रूप में वे स्वस्थ और कल्याणकारी तत्त्व निश्चय ही निहित रहेंगे जिन्हें मानवता ने युगों की साधना द्वारा प्राप्त किया है। पर जिन झूठे, अकल्याणकारी और विष-रस-भरे नैतिक और मायाविक सिद्धांतों ने झाड़ और झंखाड़ की तरह मनुष्य के प्रगति-पथ को युगों से छा रखा है वे सब साफ हो जायेंगे। और तब समग्र मानवता इधर-उधर भटकना छोड़कर, एक निश्चित, मांगलिक महामार्ग से होकर सामूहिक रूप से उस महालक्ष्य की ओर बढ़ सकेगी जहाँ इस पृथ्वी का युग-युगव्यापी नारकीय जीवन सुन्दर स्वर्ग में परिणत हो पायेगा। मैं जानता हूँ, अभी यह मेरा एक स्वप्न-मात्र है—एक अनुभूतिशील और भावुक तरुण-हृदय में उत्पन्न होनेवाला कविजनोचित सुन्दर, मनोरम, और सुनहला रोमांटिक स्वप्न। पर मेरे अंतर्मन से यह विश्वास किसी तरह भी हटना नहीं चाहता कि यह स्वप्न एक दिन निश्चय ही सफल होकर रहेगा—इसे सफल होना ही होगा। मैं आपको विश्वास

दिखाता हूँ कि मेरे जीवन की सारी साधना इसी सुनहरे लक्ष्य को सामने रखते हुए अग्रसर होती रहेगी। अपनी सीमित शक्तियों के अनुसार मैं विश्व के सूक्ष्म सांस्कृतिक तत्त्वों के विकास की इसी महायोजना में हाथ बटाने का प्रयत्न करता रहूँगा। अभी रोमां रोलां से संबंधित मेरा एक लेख हिंदी के एक प्रमुख पत्र में छपा है। उसमें भी मैंने अपने इसी विश्वास पर जोर दिया है।"

मेरा चेहरा अति-प्राकृत उल्लास से निश्चय ही तमतमा उठा होगा। मेरी मुखरता जब शांत हुई तब शरत्चंद्र का गंभीर रूप फिर एक मीठी मुस्कान में परिणत हो गया। अत्यन्त मृदु और स्नेह-सिक्त स्वर में वह धीरे से बोले, "तुम सचमुच बहुत ही भावुक हो। मैं भी किसी जमाने में सामूहिक जीवन की प्रगति के संबंध में कुछ विचित्र स्वप्न देखा करता था। उनका रूप तुम्हारे स्वप्न से भिन्न होता था, संदेह नहीं, पर थे वे भी इसी तरह की विचित्र भावुकता से रँगे हुए। पर यथार्थ जीवन के कठोर सामाजिक अनुभवों के कारण उनपर जैसे पाला पड़ गया है और वे मठर गये हैं। जो भी हो, मैं केवल एक बात का स्पष्टीकरण तुमसे चाहता हूँ। क्या तुम सचमुच फ्रायड के सिद्धांतों को इतना महत्त्व देते हो? क्या तुम सचमुच उन्हें इस कदर क्रांतिकारी मानते हो कि उनके द्वारा विश्व-चिंतना-धारा में इतने महान परिवर्तन की आशा की जा सके?"

उनके इस प्रश्न से मेरा सारा जोश एकदम ठंढा पड़ गया। मुझे लगा कि मैं अपनी बात उन्हें ठीक से समझा नहीं पाया और न समझा पाऊँगा। फिर भी स्पष्टीकरण का पूरा प्रयत्न करते हुए मैंने कहा, "मैं फ्रायड के सिद्धांतों को विशेष महत्त्व नहीं देता। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, अभी उनका पूरा अध्ययन कर सकने की स्थिति में भी मैं नहीं हूँ। और जितना कुछ

आभास उनके संबंध में मुझे मिला है उससे मैं पूर्णतया सहमत भी नहीं हूँ। मानव-प्रकृति के भीतर निहित 'गंदगी' का मथन करके फ्रायड किसी बड़े सत्य को उछालकर ऊपर रख देगा, यह विश्वास भी मुझे नहीं है। पर जो एक नया दृष्टिकोण, जो नया 'एप्रोच' उसने व्यक्तिगत और सामूहिक मानव-मन के परिष्करण, मानवीय संस्कृति और मानव-जीवन को समझने के लिये हम-लोगों के आगे रखा है उसके महत्त्व को अस्वीकार करना एक बहुत बड़े सत्य के प्रति आँख मूँद लेना है। उस नये दृष्टिकोण से लाभ उठाकर, जो बीज उसने बिखेरे हैं उन्हें अधिक उन्नत, सुसंस्कृत और सुपरिष्कृत बनाकर उनके द्वारा पूर्णतः नये सांस्कृतिक तत्त्वों की सृष्टि की जा सकती है, जो जीवन को अधिक मंगलमय बनाने में सफल हो सकेंगे। उस नव-जागृत सांस्कृतिक चेतना का जो विकास होगा उसके फलस्वरूप फ्रायडियन बीज या तो एकदम लुप्त हो जायेंगे या केवल खाद-रूप में शेष रह जायेंगे।"

"पर तुम चाहे जो कहो, मैं तुम्हें फिर एक बार सावधान कर देना चाहता हूँ और यह बता देना चाहता हूँ कि यह फ्रायडियन पथ मुझे बहुत ही संकटपूर्ण, कंटकाकीर्ण, भयंकर दलदलों और गहन गह्वरों से भरा हुआ लगता है।"

"ठीक है," मैंने तनिक भी हतोत्साह न होते हुए कहा, "मैं स्वयं भी ऐसा ही मानता हूँ, पर रवीन्द्रनाथ के शब्दों में यह कहना चाहता हूँ कि 'विपद आछे जानि विपद आछे, ताई जेने तो वक्षे पराण नाचे!' यदि हमलोग नयी पीढ़ी के लेखकगण फ्रायड द्वारा लगाये गये काँटों में कलम करके उन्हें सुन्दर फूलों में न बदल सके, भयंकर दलदलों को सुखाकर उन्हें हरी-भरी और मानव-जीवन के सुन्दर विकासयोग्य भूमि में परिणत न कर सके और गहन गह्वरों को मिट्टी से पूर कर उन्हें महास्वप्नों

की सफलता की ऊँची पहाड़ी चोटियों का रूप न दे सके तो हमारे उस निकम्मेपन से तो यही अच्छा होगा कि हम उस महावन में काँटों से छिदकर लहूलुहान हो जायँ, दलदलों में फँसकर अतल में धँस जायँ और गहन गह्वरों में एकदम विलीन हो जायँ !"

"बेश ! बेश ! भेरी गुड !" शरत्चंद्र ने मेरी पीठ ठोकते हुए कहा, "तुम उतने निरीह और भोले नहीं हो, जितना कि मैं समझे बैठा था ! तुम एक दिन बहुत दूर पहुँचोगे, यह भविष्य-वाणी मैं करता हूँ, फिर चाहे उस दूरी पर पहुँचकर तुम्हें रबिन्सन क्रूसो की तरह अकेले ही क्यों न रहना पड़े !"

"ऐसा अभिशाप न दीजिये !" मैंने हँसते हुए कहा। "यदि मैं आने-वाले युग के साहित्य के कर्णधारों के साथ अपने व्हिजन (vision) की चोटी तक न पहुँचा तो अपनी सारी साधना को ही व्यर्थ समझूँगा !"

"ठीक है, ठीक है ! यू विल गो भेरी फार ! भेरी फार !" जैसे अपने-आप से ही बात करते हुए शरत्चंद्र ने अनमने भाव से कहा और टिन से एक नयी सिगरेट निकालकर जलाने लगे।

काफी देर हो चुकी थी। मैं उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़ता हुआ बोला: "इस समय आज्ञा दीजिये। यदि मैंने अपनी ऊट-पटाँग बातों से आपको कष्ट पहुँचाया हो या आप का समय नष्ट किया हो तो उसके लिये आंतरिक क्षमा चाहता हूँ !"

"ना हे ना ! ऐसी कोई बात नहीं है। अपनी भावुकता को अब इस हद तक न बढ़ाओ कि अपने व्यर्थ के संदेह मुझ पर आरोपित करो ! हाँ, एक बात मैं भूलने ही जा रहा था। मनो-विज्ञान संबंधी जिन पुस्तकों की बात तुम बता रहे थे उन्हें जल्दी ही एक दिन मुझे देते जाना !"

"अवश्य !" कहकर मैंने फिर एक बार हाथ जोड़े और चल दिया !

साहित्य ग्रौर कला

शरत्चन्द्र की प्रतिभा

१

शरत्चन्द्र के प्राणावेग की तीव्रता का ही यह फल है कि साहित्य-जगत् में प्रवेश करते ही उन्होंने जनता की प्राण-धारा को अत्यन्त प्रबलता से आंदोलित कर दिया। जिस द्रुतगति से शरत्चन्द्र ने लोकप्रियता प्राप्त की वह अभूतपूर्व थी। वर्तमान युग में भारत के अन्य किसी भी श्रेष्ठ कलाकार को अपनी पहली ही रचना से साहित्य में शीर्ष-स्थान प्राप्त कर लेने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है।

मैं मानता हूँ कि लोक-प्रियता ही किसी कलाकार की श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं हो सकती और अधिकांश श्रेष्ठ कलाकार या तो अपने जीवन के अन्तिम काल में या अपनी मृत्यु के बाद मान्य हुए हैं। पर शरत्चन्द्र की लोकप्रियता के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रारम्भ में किस श्रेणी की जनता ने उन्हें वरण किया। जो लोग उनकी रचनाओं की ओर सबसे पहले आकर्षित हुए उनमें से अधिकांश व्यक्ति सुरुचि-सम्पन्न साहित्यिक थे, यह बात मैंने शरत् बाबू के ही मुँह से सुनी है। उन साहित्य-कारों के प्रचार के फलस्वरूप जन-साधारण भी शरत्चन्द्र की मायावी कला का रस ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो उठे और उन्होंने अपनी बुद्धि की पहुँच तथा क्षमता की गति के अनुसार उसमें एक ऐसी विशेषता पाई जो उन्हें अपूर्व तथा अनिर्वचनीय-सी लगी। साधारणतः जनता को वही रचनाएँ अधिक प्रियकर

लगती हैं जिनमें या तो लोमहर्षक घटनाओं का वर्णन हो या स्त्री-पुरुष सम्बन्धी अनाचारों की उच्छृङ्खल क्रीड़ा का लाल-लीला-लास्य नग्नरूप में चित्रित किया गया हो पर शरत्चन्द्र की लोकप्रियता की नींव जिन दो प्राथमिक छोटी-छोटी रचनाओं ('रामेर सुमति' तथा 'बिन्दुर छेले') द्वारा प्रतिष्ठित हुई है उनमें ये दोनों बातें लेश-परिमाण में भी वर्तमान नहीं हैं। इन दोनों कहानियों में शरत्चन्द्र ने नारी-हृदय की अत्यन्त सुकुमार तथा सकरुण मातृवेदना को जीवन के नाना आघात-प्रतिघात, तथा संघर्ष-विघर्ष के बीच और नाना क्रिया-प्रतिक्रियाओं के वैपरीत्य तथा विरोधाभास के ऊपर ऐसे अदृश्य तथा अजानित रूप में विजय प्राप्त करते हुए दिखाया है कि पाषाण-प्राण भी इस मायावी कलाकार की लेखनी के मर्मस्पर्श से शत-शत अश्रुधाराओं के रूप में उच्छ्वसित होकर फूट न पड़ें, यह सम्भव नहीं। इन्हीं दो कहानियों में नहीं, इसके बाद लिखी गई 'मेजदिदि,' 'बड़दिदि,' 'निष्कृति,' 'परिणीता' आदि कहानियों में भी हम शरत्चन्द्र की अनुभूति-प्रवणता की वही अन्तःस्पर्शी सहृदयता, वही सूक्ष्मतम संवेदन-शीलता तथा वही विचक्षण मर्मज्ञता पाते हैं। इन सब कहानियों में शरत्चन्द्र ने कठोर वास्तविकता से ताड़ित जिस कमनीय आदर्श के पावन आलोक की करुण-किरणों का विकीरण किया है, उसका जन-समाज में सहजप्रिय तथा आदरणीय बन जाना कोई साधारण बात नहीं।

अँगरेजी में जिसे 'रियलिस्टिक आर्ट' कहते हैं शरत्चन्द्र ने उसके महत्त्व को स्वीकार किया है। पर उसी को कला का चरम रूप नहीं माना है। जीवन की कठोर वास्तविकता की अवज्ञा उन्होंने कभी नहीं की है और भावानुभूति की स्वाभाविकता के

वह सदा कट्टर अनुयायी रहे, पर 'कला केवल कला के लिए है' इस गहन तत्त्वयुक्त नीति के बहुप्रचलित विकृत अर्थ का अनुसरण उन्होंने कभी नहीं किया। उन्होंने पूर्वोक्त रचनाओं में वास्तविकता की नींव पर सहज स्वाभाविक और साथ ही अज्ञात रूप से जिन कोमल-कमनीय तथा स्निग्ध-मधुर आदर्शों की स्थापना की है वे चिर-कल्याणोन्मुख शाश्वत मानव-मन को अदृश्य चुम्बक-शक्ति से बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। शरत्चन्द्र की पूर्वोल्लिखित कहानियों के नायक-नायिकाओं में आत्म-विरोधी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व अत्यन्त उत्कट रूप से चलता है और वे अपने मन के उलटे-सीधे चक्रों के जटिल जाल में बड़ी बुरी तरह जकड़े रहते हैं। तथापि उन सब की द्वन्द्वात्मक जटिलता के भीतर तरल स्नेह की एक सहज सरलता परिपूर्ण सामंजस्य के साथ विराजमान रहती है। उदाहरण के लिए 'रामेर सुमति' का राम बाहर से अत्यंत दुष्ट-प्रकृति और उजड्ड स्वभाव दिखाई देने पर भी उसके अंतस्तल में निष्कलुष स्नेह की ऐसी अंतःसलिलधारा छिपी हुई है जिसे या तो नारायणी अपनी सहज सहृदयता की अंतःप्रेरणा से देख सकती है या स्वयं कहानीकार अपनी मार्मिक अनुभूति से। 'बिन्दुर छेले' के नायक-नायिकाओं के बीच इन्हीं आत्मविरोधी प्रवृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष से वैमनस्य की पंकिलता मथित होते रहने पर भी उनके अंतर्प्रदेश में छिपे हुए पुण्य प्रेम की पावन धारा उस पंकिलता को क्षालित कर देती है। 'मेजदिदि' (मँझली बहन) में पितृ-मातृहीन मरभुखा लड़का केष्टो जब अनाथावस्था में अपनी सगी बहन के पास जाने पर बहन द्वारा अत्यन्त कटु शब्दों से तिरस्कृत किया जाता है तो बहन की देवरानी का सहृदय स्नेह पाकर, उसे मातृस्थानीया मानकर

'मँझली दीदी' कहकर पुकारने लगता है। 'मँझली दीदी' इस अनाथ बालक को सच्चे हृदय से प्यार करने पर भी अपने पति, जेठ और जेठानी (केष्टो की सगी बहन) के निरंतर विरोध से उसके प्रति अवज्ञा का भाव दिखाने लगती है और केष्टो को अपने यहाँ आने से मना कर देती है। पर जब देखती है कि उस निरीह बालक के प्रति संसार और समाज का अत्याचार बढ़ता चला जाता है तो वह रह नहीं सकती और अन्त में सारे परिवार के प्रति विद्रोह घोषित करके केष्टो को साथ लेकर अपने मायके चले जाने को तैयार होती है। उसका दृढ़ निश्चय देखकर पति गिड़गिड़ा कर उससे क्षमा-याचना करके दोनों को अपने घर वापस ले जाता है। 'बड़ी दीदी' में सांसारिक व्यवहार से निपट अनभिज्ञ, अन्यमनस्क स्वभाव, छल-कपट-रहित एक ग्रेजुएट 'जन्तु' का एक युवती विधवा के प्रति विचित्र रहस्यमय स्नेह दिखाया गया है। विधवा माधवी पर्दे की आड़ में रहकर इस 'जंतु' को (जो उसकी आठ-नौ साल की बहन को पढ़ाया करता है) एक नादान शिशु की तरह मानकर उसके प्रति स्नेह का वही भाव रखती है, जो अपनी छोटी बहन के प्रति। पर एक बार जब वह 'जंतु' सामाजिक आचार-विचार के प्रति अपनी निरी अज्ञानता के कारण पर्दे की कुछ परवा न कर भीतर जाकर 'बड़ी बहन!' कहकर माधवी को पुकारता है तो माधवी संकुचित और त्रस्त होकर कड़े शब्दों में अपनी छोटी बहन से कहती है कि अपने मास्टर को बाहर ले जाये। इसके बाद वह 'जन्तु' उस घर को छोड़कर किस प्रकार कलकत्ते की सड़कों पर भटकता है और गाड़ी से दबकर अस्पताल में किस प्रकार 'बड़ी बहन!' 'बड़ी बहन!' कहकर विकारग्रस्त अवस्था में कराहता है और माधवी के मन में

उसके प्रति कैसी सकरुण और सुकुमार समवेदना उमड़ पड़ती है और अंत में किस प्रकार अत्यंत मार्मिक परिस्थिति में दोनों का पुनर्मिलन होता है, इन सब घटनाओं का वर्णन जिस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता तथा सहृदय संवेदन के साथ लेखक ने किया है वह वर्णनातीत है। 'बैकुंठेर उइल' में दो भाइयों के विचित्र मनोभावों का चित्रण करते हुए दिखाया गया है कि बड़े भाई के बाहर से अत्यन्त रुक्ष-प्रकृति, कठोर-स्वभाव तथा लंठ मालूम पड़ने पर भी भीतर ही भीतर विह्वल भावोद्वेग से उसका हृदय सदा तरङ्गित रहता है, बाहर से अत्यन्त स्वार्थी और अपने छोटे भाई के प्रति अत्यन्त अत्याचार-परायण मालूम पड़ने पर भी जी-जान से उसे चाहता है और उसके लिए सर्वस्व त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। 'निष्कृति' में दिखाया गया है कि एक सम्मिलित परिवार में सब भाई कमाते हैं, पर सब से छोटा भाई निकम्मा है। मँझले भाई के सिखाने से ज्येष्ठ भ्राता इस निकम्मे भाई को सब अधिकारों से वञ्चित करने के उद्देश्य से घर जाता है, पर अपनी सहज अंतःकरण तथा स्वाभाविक स्नेहभाव के कारण अपनी अज्ञात चेतना की प्रेरणा से उसको सब से अधिक उपकृत कर आता है। इसी ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी निकम्मे भाई की पत्नी को सब समय तिरस्कृत करती रहती है, पर उसका अंतर-चेतन उसपर सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार रहता है।

मैंने शरत्चन्द्र से एक बार चेखोव की कला का विश्लेषण करते हुए कहा था कि ऐसा सच्चा कलाकार मैंने अपने जीवन में कोई नहीं पाया। शरत्चन्द्र ने मेरी बात का पूर्ण समर्थन किया, पर साथ ही कहा "जीवन की सचाई के संबंध में भारतीय आदर्श कुछ दूसरा ही है। निरर्थक सत्य को हमारे यहाँ कभी

विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। हमारे यहाँ कल्याण और मंगल की भावना को सर्वदा उच्च स्थान दिया गया है; इसलिए जिस सत्य की पृष्ठभूमि में यह भावना न हो, उसके प्रति मेरे मन में कभी आदर का भाव नहीं रहा है। मैंने कला को कभी क्रीड़ा-कौतुक के रूप में नहीं देखा है। मैं उसे मनुष्य के जीवन की चरम साधना के रूप में मानता आया हूँ।"

पूर्ववर्णित रचनाओं द्वारा शरत्चन्द्र साहित्य-क्षेत्र में यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे, सन्देह नहीं। पर जिन रचनाओं द्वारा उनका जयघोष दुन्दुभि-निनाद के साथ देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रतिध्वनित हो उठा, वे बाद में प्रकाशित हुई थीं। वे रचनाएँ हैं—'देवदास', 'चरित्रहीन' तथा 'श्रीकांत'। इन रचनाओं में शरत्चंद्र ने अपनी प्रदीप्त प्रतिभा के ज्वलंत आलोक से सामाजिक विधि-निषेधों से विजड़ित वैयक्तिक आत्मा के भीतर स्वतंत्रता तथा विद्रोह की वह आग भड़का दी, जिसकी लपटें दावाग्नि की तरह थोड़े ही समय में सर्वत्र फैल गईं। समाज के कुटिल चक्र के प्रति असंतोष तथा आत्म-स्वातंत्र्य की आकाँक्षा का अस्पष्ट भाव समाज के प्रत्येक वैयक्तिक प्राणी के भीतर वर्तमान था, शरत्चन्द्र ने अपनी उद्दाम आवेगमयी, अप्रतिहत गतिमयी, मर्म-प्रवेशिनी प्राणशक्ति की विस्फूर्जना से उक्त भाव को वैप्लविक रूप से उद्वेलित कर दिया। समाज के बद्ध वातावरण के विषमय आक्रोश द्वारा पीड़ित प्रत्येक आत्मा उन्मुक्त विचार-धारा के इस परिप्लावित तरंग-प्रवाह में बहकर अपने को निर्मुक्त और निर्बंध समझ कर तरंगायमान हो उठी।

'देवदास' ने जन-साधारण में बहुत आदर पाया है। 'नाविक के तीरों' की तरह गंभीर घाव करनेवाली इस विशिष्ट रचना का जो स्थायी प्रभाव पाठकों के मन पर पड़ता है, उसके अंतर्गत

कारण का अन्वेषण करने पर जब हम उसके नायक और नायिका के मूल चरित्रों का विश्लेषण करते हैं तो पार्वती के चरित्र के गंभीर जलधि के ऊपर देवदास का चरित्र एक वेगशील तरंग की तरह द्रुतगति से प्रवहमान मालूम पड़ता है। किसी दार्शनिक ने कहा है कि नारी-प्रकृति सदा केंद्रानुग (सेंट्रीपेटल), चिर-स्थिर तथा चिर-संरक्षणशील (कन्सरवेटिव) होती है और पुरुष-प्रकृति सदा केंद्रातिग (सेंट्रीफ्यूगल) चिर-चंचल तथा चिर-परिवर्तनशील होती है। शरत्चन्द्र की पूर्वोक्त तीनों रचनाओं ('देवदास' 'चरित्रहीन' तथा 'श्रीकांत') के नायक-नायिकाओं के चरित्र-चित्रण में हम नारी-प्रकृति तथा पुरुष-प्रकृति की इन दोनों विशेषताओं को चरम रूप में प्रस्फुटित पाते हैं। यदि शरत्चन्द्र के स्त्री-चरित्रों में वह अतलव्यापी गांभीर्य, वह चिर-संरक्षणशील स्थैर्य, वह अनन्तकालीन मूक, मौन, अटल, धैर्य न होता, जैसा कि हम उनमें पाते हैं, तो उनके सब पुरुष-चरित्र हवाई बुद्बुदों की तरह अथवा वात-विताड़ित मेघ-खंडों की तरह छिन्नाधार होकर शून्य में विलीन होते हुए दिखाई देते। देवदास एक पतित, दुर्बल और क्षीण इच्छाशक्ति-संपन्न सहृदय प्राणी है; शरत् के प्रायः सभी प्रधान-चरित्रों के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि उसकी आत्मा के अनेक बाह्य स्तरों को लंघित करके उसके अंतर-प्रदेश में यदि कोई प्रवेश कर सके तो वहाँ अवश्य ही महत् प्रेम का एक अव्यक्त बीज पाया जायगा, और यही उसके भ्रष्ट चरित्र का उन्नायक तत्त्व है, जिसे अंगरेजी में 'रिडीमिंग फीचर' कहते हैं। इससे अधिक उसमें हम कुछ नहीं पाते। पर पार्वती के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। उसके चरित्र-विश्लेषण से ऐसा मालूम होने लगता है

जैसे वह जन्म से ही जीवन की गहरी अनुभूतियों से चिर-परिचित होकर आई हो और अपने अतल-व्यापी प्रेम की सुदृढ़ शक्ति के बल से अपने सारे जीवन में मृत्यु के साथ एक सहेली की तरह क्रीड़ा करती चली गई हो। उसका स्वभाव आवेग-प्रवण और भाव-विभोर अवश्य है, पर वह आवेग उसकी आत्मा के निगूढ़ स्थैर्य तथा अनन्त धैर्य द्वारा सुसंयत है। यही कारण है कि देवदास पार्वती के महत् प्रेम की मर्मव्यथा का वृहत भार न सह सकने के कारण उच्छृँखल होकर विलीन हो गया, और पार्वती देवदास के प्रेम की स्वर्गीय पीड़ा को वज्रमणि की तरह अपने अंतस्तल में धारण करके अटल धैर्य के साथ अपने वृद्ध स्वामी तथा सौतेले लड़के-लड़कियों की सेवा द्वारा अपना सांसारिक कर्तव्य पूर्ण रूप से निबाहती चली गई।

पहले ही कहा जा चुका है कि शरत् के पुरुष-चरित्र अत्यन्त दुर्बल इच्छाशक्ति-सम्पन्न उच्छृँखल प्राणी हैं, जो गेटे के शब्दों में ऐसे जीव हैं "जिनके हृदयों में भावों का तूफान मचा रहता है, पर जिनकी अस्थियों में सारतत्त्व नाम को भी नहीं पाया जाता"। शरत् के 'चरित्रहीन' का नायक सतीश भी देवदास की ही तरह इसी प्रकार का दुर्बल प्राणी है। गेटे के 'वेर्टेर' की आलोचना करते हुए फ्रेंच आलोचक गिजो ने कहा था कि "वर्तमान युग के पुरुष की आकांक्षा अत्यन्त प्रबल होती है, पर उसकी इच्छाशक्ति अत्यन्त दुर्बल होती है।" देवदास और सतीश के सम्बन्ध में यह बात पूरी तरह से लागू है। सतीश के जीवन के असंतोष का भी यही कारण है कि वह अपने भीतर भावों का तूफान मचा हुआ पाता है और उसके भीतर हृदयहीन समाज के मृत्यु-कठिन बन्धनों को न मानकर चलने

की एक महत् आकांक्षा भी वर्तमान रहती है, इसी कारण वह अभागिनी तथापि कल्याणी, कुलत्यागिनी तथापि सदाचरणशीला सावित्री को आंतरिक प्रेम से वरण करने के लिए अधीर हो उठता है। पर सावित्री जानती है कि सतीश का उसके प्रति सहृदय प्रेम होने पर भी उसमें दैहिक आकांक्षा के भाव की प्रधानता है, इसलिए यद्यपि वह उसे अपने प्राणों से भी अधिक चाहती है, तथापि उसके प्रेम का बड़े सुन्दर ढंग से तिरस्कृत करती चली जाती है। फल यह होता है कि सतीश सावित्री की अवज्ञा का भार न सह सकने के कारण शराबखोरी में अधिकाधिक डूबता चला जाता है। सावित्री नाना घटना-चक्रों द्वारा विताड़ित होने पर भी सतीश को नहीं भूलती और उसकी परम-मंगल-कामना के भाव से प्रेरित होकर अन्त में उसके दुर्बल मन में यह सबल भाव भरने में समर्थ होती है कि त्याग के भाव में ही उन दोनों के प्रेम की महत्ता है, वैवाहिक तथा शारीरिक मिलन में नहीं। इस प्रकार 'चरित्रहीन' में अनन्त प्रेमपूर्ण तथा चिर-विरागिनी सावित्री के महत् चरित्र के अन्तर्गत महान् त्याग, असीम करुणा तथा अपरिमित आत्म-बल के भाव अत्यन्त सुन्दर रूप से अंकित पाए जाते हैं।

शरत्चन्द्र पर यह कलंक लगाया जाता है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अ-सती नारियों तथा वेश्याओं के चरित्र की महत्ता प्रदर्शित की है। शरत् की सब से बड़ी विशेषता इस बात पर रही है कि किसी भी स्त्री अथवा पुरुष के व्यक्तित्व का विचार उन्होंने उसके बाह्य आचरण से नहीं किया है। सब बाह्याचारों के जटिल जाल के भीतर मनुष्य के अंतरतम प्रदेश में सद्भाव या वेदना का जो अज्ञात स्रोत बहता है, उसे उन्मुक्त करके शरत् ने पीड़ित मानवता के आत्म-गौरव की घोषणा की है। पाप के

उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया है, पर पापी के प्रति उनके हृदय में सदा करुणा की अजस्र धारा बहती रही है।

शरत् की रचनाओं में जीवन के सम्बन्ध में उनकी गहन अनुभूति के प्रमाण घनीभूत हो उठे हैं। स्पष्ट ही पता चलता है कि मानव-समाज तथा मानव-स्वभाव के नीच, संकीर्ण, जघन्य तथा वीभत्स स्वरूप से वह भली-भाँति परिचित थे; यद्यपि उन्होंने इस पहलू को अधिक महत्त्व न देकर सहस्रों बुराइयों के भीतर दबी हुई महत् प्रवृत्तियों को मानव-मन की गहनतम गुहा-कंदराओं से बाहर निकाल कर दलित मानवता को अमर महिमा का गौरव-मुकुट पहनाया है।

शरत्चन्द्र की प्रतिभा

२

सुनो रे मानुष भाई !
सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपर नाई

—चण्डीदास

"हे भाई मनुष्य, सुनो ! सबके ऊपर मनुष्य ही एकमात्र सत्य है; उसके ऊपर कोई दूसरा सत्य नहीं है।"

शरत्चन्द्र की गणना उन अमर कलाकारों के साथ की जा सकती है जिनकी चिरन्तन वेदनात्मक मार्मिक अनुभूति विश्व-मानव-मन के अतल भाव-सागर को परिपूर्ण प्राणावेग से मन्थित करके उसके नव-नव वैचित्र्यपूर्ण रहस्यों को युग-युगान्तर से उद्वेलित करती रही है। अनुभूति की मार्मिकता और प्राणावेग, ये दो बातें विशेष रूप से मनन-योग्य हैं। अनुभूति किसी न किसी परिमाण में प्रत्येक मानव-प्राणी में वर्तमान रहती है, पर उसकी मार्मिकता केवल प्रतिभाशाली कलाकारों में ही पाई जाती है। यही कारण है कि उनकी मर्मभेदिनी दृष्टि विश्व-प्रकृति तथा मानवप्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश करके उनके मूलगत रहस्यों का परिचय सहज में प्राप्त कर लेती है, जिन्हें वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण के साथ अत्यन्त स्वाभाविक तथा सजीव रूप में पाठकों के आगे रखने में समर्थ होते हैं। पर केवल कोरा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किसी भी सच्चे कलाकार के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयुक्त नहीं होता।

कलाकार का प्रधान सम्बन्ध रहता है प्राणों से। किसी व्यक्ति अथवा विषय के मूल प्राणों का मर्म पाठकों के प्राणों तक पहुँचाने में जो लेखक अक्षम है वह कभी श्रेष्ठ कलाकार नहीं हो सकता। जो रसकार जितनी अधिक वेगशीलता से पाठकों के प्राणों को तरङ्गित करने में समर्थ होगा, अर्थात् जिस लेखक में प्राणावेग जितना अधिक प्रबल होगा उसकी श्रेष्ठता उतनी ही अधिक प्रमाणित होगी। शरत्चन्द्र में ये दोनों गुण—अनुभूति की मार्मिकता तथा प्राणावेग—परिपूर्ण रूप से प्रमाणित होने के कारण ही उनकी महत्ता आज विश्व-वन्दनीय होने जा रही है।

मानव-मन की गहन रहस्यमयी सूक्ष्म भावनाओं को, मानवात्मा के महत् आदर्शों को तथा मनुष्य-हृदय की विह्वल वेदनाओं को साधारण जनता तक पहुँचा देना एक असाधारण कलाकार की ही क्षमता की बात है। हमारे यहाँ एक तुलसीदास को छोड़कर अन्य किसी कला-कोविद के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। शरत्चन्द्र के विषय में यह दलील लागू नहीं हो सकती कि उनकी लोकप्रियता का कारण भी अन्यान्य बहुत-से जन-प्रिय लेखकों की तरह उनकी रुचि-विकृति है। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित राय देने के पहले हमें 'रामचरित-मानस' की लोकप्रियता की बात ध्यान में रखनी होगी।

शरत्चन्द्र की प्रारम्भिक कहानियों में हम जीवन की कठोर वास्तविकता के ऊपर वर्तमान युग के चक्र-संघर्ष में पिसती हुई मातृ-वेदना की निराशा होते हुए देखते हैं। 'रामेर सुमति' की चर्चा करते हुए हम यह दिखा चुके हैं कि अपने पितृ-मातृहीन सौतेले देवर राम को आजीवन पुत्र की तरह पालने पर भी उसकी शरारतों और अत्याचारों से नारायणी किस प्रकार तङ्ग

आ जाती है, तथापि इस उजड्ड-स्वभाव लड़के की अन्तः प्रकृति में निहित अकपट स्नेह का भाव उसे इस प्रबलता से आकर्षित करता है कि जबर्दस्त विरोधी वातावरण के होते हुए भी वह अपने पति, अपनी माता, तथा सारे समाज के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करके अन्त तक उस हतभाग्य और विश्व-स्नेह-वंचित, दुष्ट किन्तु सांसारिक कूट बुद्धि से रहित, नटखट किन्तु निष्कपट लड़के का साथ देती है। 'बिन्दुर छेले' का कथानक कुछ विचित्र ढङ्ग का है। बिन्दु एक धनी जमींदार की लड़की है, पर उसकी जेठानी का जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ है। तथापि दोनों बड़े मेल से रहती हैं। दोनों भाइयों में भी बड़ा मेल है। बड़े भाई यादव मुकर्जी पुराने ढङ्ग के और बड़े भोले स्वभाव के आदमी हैं। छोटा भाई माधव नए ढङ्ग का है और उसे अपनी धनी कुल की सुन्दर स्त्री का बड़ा गर्व है। तथापि वह अपने भैया और भाभी के प्रति विशेष श्रद्धावान है। बिन्दु की जेठानी अन्नपूर्णा अपने पति की ही तरह पुराने चाल की स्त्री है। उसका मिजाज तेज होने पर भी उसका हृदय एकदम निष्कपट और अत्यन्त स्नेहशील है। बिन्दु को वह अपनी सगी बहिन, बल्कि यह कहिए कि अपनी लड़की की तरह चाहती है। बिन्दु निःसन्तान थी और उसे हिस्टीरिया की बीमारी थी। एक दिन ज्योंही उसे फिट आना ही चाहता था कि अकस्मात् उसकी जेठानी न मालूम क्या सोचकर अपना दूध-पीता बच्चा उसके पास रोता हुआ छोड़कर बाहर चली गई। बच्चे के रोने में न मालूम क्या जादू था कि बिन्दु को फिट आते-आते रह गया। तब से जब-जब उसे फिट आने को होता, तब-तब उसकी जेठानी अपने बच्चे को उसके पास रोता हुआ छोड़ देती। इस उपाय से बिन्दु की फिट की बीमारी अच्छी हो गई और वह अपनी जेठानी के लड़के अमूल्य को

स्वयं पालने-पोसने लगी। फल यह हुआ कि अमूल्य अपनी माँ को जीजी और चाची को माँ कहने लगा। अमूल्य के कारण बिन्दु अक्सर अपनी जेठानी से झगड़ पड़ती थी। कभी कहती कि उसका दूध ठीक समय पर गरम नहीं किया गया, कभी कहती कि उसके कपड़े न मालूम कहाँ खो दिए। इन छोटी-छोटी बातों को लेकर दोनों में खूब देर तक वाद-विवाद होता, पर कुछ ही समय बाद यह झगड़ा शान्त हो जाता और दोनों हार्दिक स्नेह से एक-दूसरे से गले मिलतीं। इसी प्रकार स्नेह-प्रेम तथा वैमनस्य की क्रमानुक्रमिक चक्रगति से दस-बारह वर्ष बीत गए। एक दिन देवरानी-जेठानी का वाद-विवाद एक साधारण विषय को लेकर कटुता की इस सीमा को पहुँच गया कि दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद होने की नौबत आ गई। दोनों भाई अलग-अलग रहने लगे। बिन्दु का प्राणों से प्रिय अमूल्य, जिसके बिना वह एक घड़ी के लिए भी नहीं रह सकती थी, अब अपनी वास्तविक माता के साथ रहने लगा। बिन्दु के पश्चात्ताप की सीमा न रही। केवल अमूल्य को ही नहीं, वह अपनी जेठानी को भी बहुत चाहती थी, जिससे अकारण लड़ पड़ने का परिणाम इस विकट अवस्था को पहुँच गया था। पर वह बड़ी अभिमानिनी थी, और मन में कुछ ही क्यों न सोचे, बाहर से यही भाव दिखाती थी कि उसे न तो अमूल्य की पर-वाह है न उसकी माता की। फिर भी भीतर ही भीतर चिन्ता के कारण वह घुली जाती थी। अन्त में वह मायके चली गई और वहाँ सख्त बीमार पड़ गई। उसकी जेठानी भी अभिमान-वश उससे नहीं मिलती थी पर उसका स्नेह-परायण हृदय उसके चले जाने पर विकल क्रन्दन से विह्वल हो रहा था। जब उसने सुना कि बिन्दु की अवस्था चिन्ताजनक है तो वह रह न

सकी और पति तथा पुत्र को साथ लेकर सब अभिमान भूलकर बिन्दु के पास जाकर उससे गले मिलकर रोने लगी। जेठ-जेठानी और अपने प्यारे अमूल्य को फिर से पाकर बिन्दु की जो हालत हुई, उसकी तुलना केवल उस अवस्था से की जा सकती है जब भरत, विछोह की विह्वल वेदना से विमूर्च्छित से होकर, राम, लक्ष्मण और सीता से मिले थे। बिन्दु ने कहा: "जीजी ! अब मैं न मरूँगी, चिन्ता न करो !"

'बिन्दुर छेले' के कथानक का वर्णन कुछ विस्तार से हमने इसलिए किया है कि इस एक कहानी से शरत्चन्द्र की आरम्भिक रचनाओं की विशेषताएँ समझ में आ जाएँगी। इसमें पाठक देखेंगे कि कैसे विचित्र अन्तर्द्वन्द्वों परस्पर-विरोधी मनोवृत्तियों तथा बाह्य संघर्ष-विघर्षों की तह में स्निग्ध तथा निष्कलुष प्रेम की पावन प्रशान्त धारा मृदु मन्थर गति से कलकल स्वर में बहती चली गई है। विरोधी परिस्थितियों के वैचित्र्यपूर्ण अन्तःचक्रों में दबे हुए सहृदय भावों में समन्वय तथा सामञ्जस्य प्रतिष्ठित करके उन्हें सुन्दर स्वाभाविक रूप में जनता के सामने रखने की कला में शरत्चन्द्र अद्वितीय थे। उनकी अनेक रच-नाओं में हम इसी विशेषता के विभिन्न रूप पाते हैं।

मानव-मन के कितने उलटे-सीधे चक्रों के सूक्ष्म मनोवैज्ञा-निक चित्रण तथा स्वतःविरोधी मनोवृत्तियों और परिस्थितियों से पूर्ण वास्तविकता के अत्यन्त युक्तियुक्त परिदर्शन द्वारा शरत्चंद्र ने मंगलमय आदर्शों का प्रस्फुटन किया है। इन आदर्शों के प्रदर्शन से उनकी कला में कहीं किसी प्रकार की अस्वाभाविक कृत्रिमता नहीं आने पाई है, न कहीं उसमें आदर्श प्रतिष्ठित करने की कोई चेष्टा ही लक्षित होती है। पारिवारिक चित्रों में आलोक तथा छाया के उपयुक्त अनुपात का विचार

ऐसी सूक्ष्मता से उन्होंने किया है कि कहीं कोई रेखा बाल-बराबर भी इधर से उधर नहीं होने पाई है। आदर्श के लिए उन्होंने कहीं कला को रञ्चमात्र भी खण्डित नहीं किया है, और साथ ही यह बात भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि कोरी कला के लिए उन्होंने कभी आदर्श को भी खर्व नहीं होने दिया है। अन्यान्य श्रेष्ठ कलाकारों से शरत् की महानता इसी बात में है। संसार का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार इस युग में एण्टन चेखोव माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसका चरित्र-चित्रांकण अत्यन्त सूक्ष्म रूप से वास्तविक और सजीव होता है और साथ ही उसके चरित्र भी अत्यन्त जटिल मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से घिरे हुए रहते हैं। ऐसे चरित्रों का यथार्थ चित्रण कोई दिल्लगी नहीं, और चेखोव ने उनके विश्लेषण में जो बारीकियाँ दिखाई हैं वे अतुलनीय हैं। पर उसकी किसी भी कहानी के अन्तराल में अन्तःसलिला धारा की तरह आदर्श की वह अतीन्द्रियता प्रतिभासित नहीं हुई है जो हम शरतचन्द्र की कहानियों में पाते हैं।

अपनी प्रारम्भिक कहानियों के बाद शरत्चन्द्र ने जो क्रांतिकारी उपन्यास लिखे, उनमें उन्होंने स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम का एक ऐसा अपूर्व आदर्श जनता के सामने रखा जिससे सारा भारतीय समाज हिल उठा। उनकी इस नव-कल्पनामयी कला में अन्तर्विप्लव की जो हिलोर कल्लोलित हो उठी, उसकी तुलना यूरोप के उस युग-विप्लव से की जा सकती है जो जर्मन कवि गेटे की प्रथम-प्रकाशित रचना 'वेर्टेर' द्वारा उमड़ पड़ा था। 'वेर्टेर' के प्रभाव के सम्बन्ध में कार्लाइल ने जो कुछ लिखा है वही बात शरत्चन्द्र द्वारा आन्दोलित क्रान्ति के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कार्लाइल ने लिखा है :

"यह अवर्णनीय अज्ञात अशान्ति, बन्धनग्रस्त आत्मा की वह अन्ध आलोकात्मक स्वतंत्राभिलाषा, वह विपुल विषाद-मूलक महत् असन्तोष जो प्रत्येक मानव-प्राणी के अन्तर में उच्छ्वसित हो रहा था, गेटे को मर्माहत कर चुका था। उसका अनुभव सभी कर रहे थे, पर केवल गेटे ही उसे वाणी के रूप में घोषित कर सका। उसकी तत्कालीन लोकप्रियता का रहस्य यहीं पर है। अपने गहन भावप्रवण हृदय में उसने उस वेदना को अन्यान्य व्यक्तियों से सहस्र गुणा अधिक मार्मिकता से अनुभूत किया, और अपनी कविजनोचित सर्जनामयी प्रेरणा से उसने उस वेदना को एक समूर्त तथा सजीव रूप दे दिया। 'वेर्टर' केवल उस अस्पष्ट, किन्तु मर्मगत वेदना की कराह है जो एक विशेष युग के सभी विचारशील व्यक्तियों को दलित तथा पीड़ित कर रही थी। इसी कारण सारे यूरोप ने हृदय तथा वाणी से तत्काल उसका स्वागत किया।"

'वेर्टर' में 'देवदास' की ही तरह सामाजिक शासन-चक्र से पीड़ित एक प्रेम-कीलित आत्मा के निष्फल विद्रोह और हाहाकार की ट्रेजिक गाथा वर्णित हुई है। वेर्टर ने तिरस्कृत प्रेम और असफल आकांक्षा से उकता कर आत्महत्या कर ली, और देवदास भी इन्हीं कारणों से जीवन के प्रति उदासीन होकर मृत्यु के अन्धकूप की ओर लुढ़कता चला गया। पर वेर्टर और देवदास में एक बड़ा भारी अन्तर है। वह यह कि वेर्टर की प्रेमानुभूति विशुद्ध भावुकता के रस में शराबोर थी। उसने अपनी काव्य-कल्पना से चार्लोट के प्रति अपने प्रेम का जो विराट् रूप अपने मन में अंकित किया था, उसके अन्तस्तल में उसका वास्तविक अस्तित्व उस रूप में नहीं था। वह भावुकता की तरङ्ग में बहते-बहते अन्त में डूब तक गया और उसकी

मृत्यु भी हो गई, तथापि वह यह सिद्ध भी नहीं कर सका कि उसके हृदय में प्रेम की भावना यथार्थ में उतने ही गहन रूप में अवस्थित थी जिस रूप में उसने अपनी छायावादी भावुकता भरे पत्रों में प्रदर्शित किया है। पर देवदास की बात कुछ दूसरी थी। देवदास के चरित्र में बहुत-सी दुर्बलताएँ होने पर भी उसका प्रेम ऐसा मर्मगत तथा मूक है कि लेखक ने यद्यपि कहीं उसका वर्णन तथा स्पष्टीकरण तक नहीं किया है, तथापि प्रत्येक पाठक उसकी निबिड़ता के अनुभव अपने अन्तस्तल में करता है। वेर्टेर और चार्लोट के प्रेम का कारण एक नवयुवक और एक नवयुवती का साधारण और स्वाभाविक वासनात्मक आकर्षण है। पर देवदास और पार्वती के प्रेम के सम्बन्ध में ऐसा अनुभव होने लगता है जैसे किसी गहन-गम्भीर गुहा से प्रेम की दो धाराएँ उमड़ कर साथ ही बहती आई हैं, पर पथ में विशाल पर्वत-पाषाणों से टकराने के कारण दोनों धाराएँ अलग हो पड़ी हैं और उनके बीच में विराट् व्यवधान पड़ गया है; तथापि दोनों अनन्त-मिलन की चिर-व्याकुलता लेकर नाना गिरि-कन्दराओं तथा गहन अरण्य-पथों में पछाड़ खाती हुई युग से युगान्तर की ओर प्रवाहित होती चली गई हैं। देवदास और पार्वती के प्रेम-वर्णन के लिए इस जटिल छायावादी रूपक की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि यद्यपि शरत्चन्द्र ने कठोर वास्तविक जीवन के रङ्गमञ्च पर उसका प्रदर्शन किया है, तथापि उसका मूलाधार उस चिरन्तर आध्यात्मिक सत्य पर स्थित है जिसकी प्रतिध्वनि वैष्णव कवि की इस उक्ति में फूट पड़ी थी।

लाख-लाख युग हिये-हिये राखनु
तबु हिया जुड़न ना गेलो।

वेर्टेर और चार्लोट का प्रेम क्षणिक भावावेश की अस्थायी

अवधि तक सीमित है, पर देवदास और पार्वती का प्रेम महा-काल के असीम बैकग्राउण्ड पर अधिष्ठित है। यही कारण है कि 'वेर्टेर' के प्रकाशन से भावावेग की जो उद्दाम तरङ्ग एक बार सारे यूरोप में उद्वेलित हो उठी वह दो-चार वर्ष से अधिक समय तक स्थायी न रही। पर 'देवदास' की लहर यद्यपि 'वेर्टेर' के अनुरूप कारणों से ही भारत में उमड़ी तथापि आज उसके प्रथम प्रकाशन के कई वर्ष बाद तक भी उसका अस्तित्व लोप न होकर उसका प्लावन अधिकाधिक बढ़ता ही चला गया।

कहा जाता है कि शरत् की नारियों में विद्रोह का भाव रहा है। पर मैं कहना चाहता हूँ कि 'शेष प्रश्न' और 'विप्रदास' को छोड़कर शरत् के उपन्यासों में वास्तविक विद्रोह नहीं, बल्कि विद्रोह का मर्मगत बीज वर्तमान है। यह विद्रोह उस तूफान की तरह है जो समुद्र की मर्यादा का लंघन नहीं कर सकता। समाज की वाह्य व्यवस्था का पालन पूर्ण रूप से न करने पर भी शरत्चन्द्र की नायिकाएँ महत्त्वपूर्ण विषयों में सदा समाज की मर्यादा को मानती चली गई हैं। देवदास के प्रति अपने प्रेम को तनिक न छिपाने पर भी पार्वती अपने वृद्ध पति के साथ प्रेमभाव से रह कर सामाजिक विधि-विधानों का पूर्ण पालन करती गई है। सतीश के प्रति आन्तरिक प्रेम होते हुए भी सावित्री उसके साथ विवाह के प्रस्ताव पर कभी राजी न हुई और न कभी किसी प्रकार का दैहिक संबंध उसने उससे स्थापित किया। 'श्रीकान्त' की अन्नदा दीदी ने कुल त्याग कर भी अपने सँपेरे पति का साथ अन्त तक दिया। राजलक्ष्मी ने घटना-चक्रों की विषमता से वेश्या का जीवन बिताने को बाध्य होने पर भी अपने मूलगत धार्मिक संस्कार का त्याग कभी न किया और जिस व्यक्ति (श्रीकांत) को वह अपने प्राणों से भी

अधिक चाहती थी उसके साथ सदा पवित्र सम्बन्ध निबाहती आई। 'श्रीकांत' की अभया केवल एक ऐसी नारी है जिसने अपने अत्याचारी, आततायी पति का संसर्ग त्याग कर दूसरे पुरुष के साथ पूर्ण रूप से गार्हस्थिक सम्बन्ध स्थापित करने का साहस किया है। पर इस विद्रोहिनी नारी की आत्मा के तल-प्रदेश में भी मातृजाति की स्वाभाविक मर्यादा और संसार तथा भगवान, दोनों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना पूर्ण रूप में वर्तमान रही है। बाह्याचार की दृष्टि से शरत् के स्त्री-पात्रों के जीवन में कैसी ही उच्छृङ्खलता क्यों न पाई जाती हो, पर संसार तथा भगवान के प्रति वे सब उत्तरदायित्वपूर्ण हैं, और इसी कारण उनके जीवन का आदर्श अत्यन्त सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित है। यदि यह सुदृढ़ भित्ति न होती तो उनका विद्रोह साबुन के पानी के बर्तनों में मचे हुए तूफान के कारण उठे हुए बुलबुलों की तरह सारहीन होता। जिन आलोचकों ने शरत की मध्यावस्थावाले उपन्यासों में उच्छृङ्खलता निर्दिशित की है उन्होंने केवल उसका बाहरी रूप ही देखा है और यह नहीं देखा कि उसका आधार कितनी गहराई पर है और किस प्रकार ठोस है।

पतित पुरुष तथा भ्रष्ट नारी के भीतर भी देवत्व का निवास है, यह भाव नया न होने पर भी शरत् ने अपने कवि-हृदय की सुकुमार तथा मार्मिक अनुभूति से उसे अत्यन्त सुन्दर रूप से व्यंजित किया, इसीलिए धर्म के ठीकेदारों के आक्रमण उनपर होते रहे।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि शरत्चन्द्र का जन्म उस प्रदेश में हुआ जहाँ मध्ययुग के अन्यतम कवि चण्डीदास ने एक धोबिन के प्रेम से पागल होकर, संसार और समाज का भूठा

बन्धन तोड़ कर करुणा और प्रेम की ऐसी धारा बहा दी जिसकी बाढ़ में वंग-साहित्य संसार अभी तक बहता चला आया है। चण्डीदास ने सामाजिकता के वाह्याचार की तनिक भी परवा न करके मनुष्य के मानवत्व को अपनाकर अमर शब्दों में उसकी विजय-घोषणा की थी।

रवीन्द्रनाथ ने एक विशुद्ध कवि की प्रेरणा पाकर अरूपात्मक भावों के उद्वेलन द्वारा पतिता की अन्तरात्मा के भीतर छिपे हुए पुण्य-आलोक का प्रदर्शन किया है। पर शरत्चन्द्र कवि-प्राण होने पर भी वास्तविक जीवन के उपन्यासकार थे। उन्हें उसी अरूपात्मक भाव को अभिव्यक्त करने के लिए कठोर वास्तविकता के संघर्ष के बीच प्रवेश करना पड़ा है। वास्तविक जीवन की वीभत्स पंकिलता को मंथित करके उन्होंने चिर-उपेक्षिता, अनाथा, घृणित नारी के हृदय के अन्तरतम प्रदेश में दबे हुए दिव्य कमल को बाहर निकाल कर अत्यन्त मनोरम रूप से प्रस्फुटित किया है। यही उनका दोष रहा है, जिसे कुछ आलोचक क्षमा नहीं कर सके हैं, यही उनका गुण रहा है, जिसने लाखों पाठकों के पाप-तप्त हृदयों में शीतल पुण्यामृत का अविरल स्रोत बहा दिया है।

जिन लोगों ने शरत्चन्द्र को दुर्नीति तथा अनाचार का प्रचारक बताने का दुस्साहस किया है उन्हें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शरत्चन्द्र ने अन्नदा दीदी तथा सुरबाला के समान ऐसे अमर चरित्रों की भी अवतारणा की है जिनके उज्वल सतीत्व के आगे पौराणिक सतियों के चरित्र भी फीके पड़ जाते हैं। उच्छृङ्खलता तथा अनाचार के वह सदा विरोधी रहे हैं। किसी भी नायक अथवा नायिका के उत्तरदायित्वहीन समाज-विद्रोह का समर्थन उन्होंने क्षीण इङ्गित से भी कभी नहीं किया

है। 'चरित्रहीन' की किरणमयी की दुर्गति का जो लोमहर्षक तथा मर्मभेदी चित्रांकण उन्होंने किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। जिन समाज-बहिष्कृता, कुलत्यागिनी अथवा कलंकिता नारियों के प्रति उन्होंने उदार समवेदना प्रदर्शित की है वे मीरा की तरह कुल-कानि त्यागने पर भी अपनी निजी आत्मा, विश्वात्मा तथा परमात्मा के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निबाहती चली गई हैं। अन्तर केवल यही रहा कि मीरा ने कृष्ण की काल्पनिक मूर्ति पर अपना तन, मन-प्राण निछावर करके चिर-मिलन का मोहोन्मादमय जीवन बिताया है और शरत् की प्रत्येक समाज-पीड़िता नारी ने अपने वास्तविक जीवन के सजीव कृष्ण के प्रेम में तन्मय होकर चिर-विरह की विह्वल वेदना को प्रशान्त हृदय से वरण किया है। यह वैष्णव भाव शरत् के मध्ययुगीन उपन्यासों की विशेषता रही है।

कालिदास ने प्रेम-प्रवञ्चिता दीर्घ-विरह-व्रतचारिणी शकुन्तला की सकरुण स्निग्धच्छवि का वर्णन इन मार्मिक शब्दों में किया है :—

> वसने परिधूरे वासना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः
>
> अति निष्करुणस्य शुद्धशीला, मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति।

करुण-कलित वैराग्य की कमनीय कोमल वेदना का जो मूर्तिमान रूप कालिदास ने इस अमर लोक में अङ्कित किया है, शरत्चन्द्र ने पार्वती, सावित्री, चन्द्रमुखी, आदि चरित्रों में उसी की महिमा अधिकतर व्यापक रूप से चित्रित की है। कालिदास की शकुन्तला दीर्घ विरह-व्रत-चारिणी रही है, पर शरत् की पूर्वोक्त नायिकाएँ अनन्तकालीन विरह का महाव्रत मौन वेदना से यापन करती चली गई हैं। शकुन्तला की विरह-व्यथा मिलन

की अज्ञात आशा के आलोक से उज्ज्वल थी और वह आशा अन्त में सफल भी हुई। पर शरत् की नारियों को मिलन की प्रत्यक्ष सुविधाएँ होते हुए भी वास्तविक मिलन से वे सदा दूर रही हैं, और अनन्त-विरह की पावन-अग्नि में चिरकाल तपते रहना ही वे इहलोक तथा परलोक का आदर्श मानकर चली हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के बाद ऐसा एक भी कहानी-कलाकार संसार में पैदा नहीं हुआ जो प्राण-प्रवेग में शरत् का मुकाबला कर सके और जो डास्टाएव्सकी तथा शरत् की तरह आन्तरिक समवेदना से पतिता नारी के चरणों में झुककर यह गद्-गद्-विह्वल भाव व्यक्त करने का वास्तविक अधिकारी बन सके कि "मैं पीड़ित मानवता को श्रद्धा से प्रणाम करता हूँ।"

शरत् साहित्य

साहित्य-क्षेत्र में शरत् का आविर्भाव एकदम आकस्मिक था। वह साहित्यिक वातावरण से दूर, जीवन के प्रतिदिन के संघर्ष के बीच में आवारा लोगों का-सा जीवन बिता रहे थे और वास्तविक तथा प्रत्यक्ष जीवन के मार्मिक रूप से कड़वे अनुभवों को प्राप्त करने में ही उनका आधे से अधिक जीवन बीत गया। जीवन की यथार्थ अनुभूति को वह इतना अधिक महत्व देते थे कि उसके आगे सस्ती साहित्यिक ख्याति का कोई भी मूल्य वह नहीं मानते थे।

उन जीवनव्यापी गहन और मर्मस्पर्शी अनुभवों को लेकर अन्त में जब वह साहित्य के प्रांगण में उतरे तब बिजली की सी तीव्रता से साहित्यिक जनता की रगों में एक नई चेतना की लहर दौड़ गई। साहित्य समाज अपने अनजान में उनके आविर्भाव के लिये जैसे तैयार बैठा था।

तब बंकिमचंद्र का प्रभाव बंगाल के साहित्य-क्षेत्र से प्रायः पूर्णतः मिट चुका था। अपनी प्रचंड प्रतिभा के बावजूद बंकिमचंद्र अठारहवीं शताब्दी के आदर्शों को मान्यता देते रहे। रवीन्द्रनाथ युग-युग के गंभीर प्रश्नों पर प्रकाश डाल सकते थे, युग के प्रश्नों पर नहीं। अतएव नई, किन्तु अस्पष्ट, चेतना से छटपटाती हुई तत्कालीन शिक्षित जनता अपने अनजान में एक ऐसे मनीषी की बाट अत्यन्त उत्सुकता से जोह रही थी जो युग की प्रत्यक्ष-अनुभूत, जटिल और महत्वपूर्ण समस्याओं की उल-

प्रश्न को सुलझाने की कुंजी गहन कलात्मक साधनों द्वारा प्रदान कर सके।

बीसवीं शती के प्रारंभिक काल में संसार में सभी क्षेत्रों में —राजनीति, विज्ञान, साहित्य आदि में—जो व्यापक क्रांतियाँ मचने लगी थीं उनके धक्के से परतंत्रता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ जड़ भारत मुक्ति के लिये छटपटाने लगा था। इसलिये बंकिम के पुराने आदर्श उसे संतोष नहीं दे सकते थे। रवीन्द्रनाथ ने देश की इस बेचैनी को समझकर मुक्ति का नया संदेश अवश्य दिया, पर जो महत्वपूर्ण चीज रवीन्द्र न दे सके वह थी वास्तविक जीवन के ज्वलंत संघर्ष की ज्वलंत समस्याओं का निदर्शन और उनके समाधान के लिये सुझाव।

इन सब कारणों से सारा साहित्यिक वातावरण जैसे पहले ही से शरत् के स्वागत के लिये तैयार बैठा था।

संपूर्ण शरत्-साहित्य को तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है। प्रारंभिक युग में शरत् ने भारतीय नारी-हृदय की सकरुण, स्नेह-कोमल वेदना को नाना आघात-प्रतिघात और जीवन के संघर्ष-विघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न वैपरीत्य और वैमनस्य के ऊपर विजय प्राप्त करते हुए अत्यन्त मार्मिक रूप से कलात्मक चमत्कार द्वारा अभिव्यक्त किया है। 'रामेर सुमति', 'बिंदुर छेले', 'मेज दीदी', 'बड़ो दीदी', 'विराज बहू', 'पंडित मोशाई', 'निष्कृति', 'परिणीता', बैकुंठेर उइले', आदि रचनाओं में हम यही विशेषता पाते हैं। इन प्रारंभिक रचनाओं ने उन्हें गार्हस्थिक संघर्षों में पीड़ित, मध्यवित्त भारतीय जनता के अंतर की कोमलतम भावनाओं के सूक्ष्म निरीक्षक और मर्मस्पर्शी चित्रकार के रूप में साहित्य के प्रांगण में प्रतिष्ठित किया।

इस तरह साहित्य-संसार में अपनी एक विशिष्ट और

निश्चित छाप अंकित कर चुकने के बाद वे दूसरे युग पर उतरे। इस दूसरे 'युग' में वह हमारे सामने केवल एक असाधारण अंतर्दृष्टि वाले कलाकार के रूप में ही नहीं आते, बल्कि व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष को किसी हद तक सामाजिक स्तर पर ले जाने के लिये सचेष्ट भी जान पड़ते हैं। साथ ही, जहाँ वह पहले युग में नारी के सरल मातृ-हृदय की कोमल वेदना के प्रस्फुटन में तल्लीन दिखाई देते हैं, वहाँ दूसरे युग में नारी की उसी कोमल भावना के दूसरे रूप का—अर्थात् उसके प्रेयसी-रूप का—गहन कलात्मक निदर्शन हम पाते हैं। वास्तविकता यह है कि नारी के मातृरूप में और प्रेमिका-रूप में कोई मूलगत अंतर नहीं है। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि रखनेवालों को ऐसी बहुत सी नारियों के प्रत्यक्ष दृष्टांत जीवन में मिल सकते हैं जो अपने अन्तर की मातृ-वेदना द्वारा अनजान में प्रेरित होकर ही विशेष-विशेष पुरुष-प्रेमिकों को आत्म-समर्पण करती रही हैं—विवाहित अथवा अविवाहित रूप में और शारीरिक अथवा आत्मिक रूप में। साधारण पुरुषों की स्थूल दृष्टि में यह बात भले ही न आये, नारियाँ आदिकाल से अपनी इस रहस्यमयी भावना से परिचित रही हैं और उसमें किसी प्रकार की उलझन का अनुभव उन्हें नहीं होता।

जो भी हो, बात चल रही थी शरच्चंद्र की औपन्यासिक कला के रोमांटिक युग को लेकर। इस युग में शरत ने नारी और पुरुष के पारस्परिक प्रेम से सम्बन्धित परंपरा-प्रचलित मान्यताओं पर आघात करने का पहला क़दम उठाया। इस युग में पहली बार उनके उपन्यासों में ऐसी नायिकाएँ प्रधान रूप से अवतरित होती हैं जो किसी-न-किसी कारण से समाज से च्युत होकर या तो वेश्याओं का जीवन बिताने को विवश

हुई हैं या निर्दोष होने पर भी सामाजिक लांछना का भार चुप-चाप, आजीवन वहन करते रहने को बाध्य हुई हैं या जिन्हें जन्म से ही जातीय हीनता का बोझ ढोना पड़ा है। उनके इस युग के नायक अधिकांशतः या तो शराबी, चरित्रहीन और दुर्बल-प्राण हैं या आवारागर्दी का 'व्रत' लिये हुए हैं। पर दुर्बल-चरित्र होने पर भी उनके सभी नायकों के भीतर आपेक्षिक सहृदयता निहित पाई जाती है और नायिकाएँ अपनी सामाजिक हीनता में भी आत्मिक महानता लिये हुए हैं।

वेश्याओं अथवा हीन सामाजिक स्थिति वाली नारियों को नायिका के स्तर पर खड़ा करने तथा दुर्बल-प्राण युवकों को औपन्यासिक नायकों के पद पर प्रतिष्ठित करने के कारण शरत् ने जिस विद्रोह की घोषणा कर दी थी उसके फलस्वरूप साहित्य-मंदिर के पंडों ने चारों ओर से उनका प्रबल विरोध करना आरंभ कर दिया। उस युग की संकीर्ण रूढ़िवादिता को देखते हुए यह स्वाभाविक था। कोढ़ी पति को अपने कंधे पर उठाकर वेश्या के यहाँ पहुँचा आने वाली सती नारियों के 'महान' और 'पुनीत' आदर्श से परिचालित होकर जो देश युगों से 'पुण्य-संचय' करता आया है उसके जन्म-जन्मार्जित संस्कार को वेश्याओं के कलंकित शरीर के भीतर निहित देवात्मा को खोद कर निकालने वाले कवि के कलात्मक प्रयास द्वारा गहरा धक्का पहुँचेगा, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

जो भी हो, यह स्पष्ट है कि शरत् ने वेश्या-चरित्रों की अवतारणा करके नैतिक साहस और रूढ़िवादी आदर्शों के विरुद्ध विद्रोह का परिचय दिया। इस सम्बन्ध में साहित्यिक पंडे भले ही कुछ कहते रहे हों, पर नई पीढ़ी के साहित्य-कार-

खियों ने एक स्वर से स्वीकृत किया है कि यह साहित्यिक प्रगति के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा क़दम था।

तथापि यह एक क़दम मात्र था, इससे अधिक नहीं। क्योंकि आज के मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के युग की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो यह बात समझने में देर न लगेगी कि अपने सामाजिक, विद्रोहात्मक, रोमांटिक उपन्यासों में शरत् ने यद्यपि अपनी ओर से स्त्री-पुरुष के प्रेम के सम्बन्ध में एक नवीन, कल्याणमूलक आदर्श स्थापित करने का प्रयास किया है, तथापि वह भावुकता के प्रवाह में बहकर रह गये और एक क्रांतदर्शी चिंतक कवि के संतुलित वैज्ञानिक दृष्टिकोण को उन्होंने नहीं अपनाया। उन्होंने केवल सतह पर खेलनेवाले यथार्थवाद को अपनाया। यथार्थ जीवन के पात्रों और घटनाओं के सूक्ष्म 'एक्स-रे'—परीक्षण और उसके बाद सूक्ष्म ही चीर-फाड़ के द्वारा समाज की सड़ी हुई भावधाराओं और उन विकृत भावधाराओं से रोग-ग्रस्त पात्रों के अंतर में जड़ जमाये हुए विकारों को दूर करने की कला में न तो वह परिचित ही थे, न उतनी गहराई तक जाना उन्हें अभीष्ट ही था।

उदाहरण के लिये उनके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'देवदास' को लीजिये, शरत् का यह उपन्यास बंगाल में तथा बंगाल के बाहर जितना लोकप्रिय हुआ उतना उनकी कोई दूसरी रचना नहीं।

इस उपन्यास का नायक देवदास एक अत्यन्त भावुक, क्षीण-प्राण और दुर्बल-चरित्र प्राणी है। इतना अवश्य है कि उसका अनुभूतिशील हृदय रसमय है। अपने अंतर में प्रेम के भावोद्वेल का अनुभव वह बड़ी तीव्रता से करता है। पर उच्चवर्ग की जो आत्म-परायण (ईगो-सेन्ट्रिक) प्रवृत्ति उसने पाई थी उसे वह, शरत् के उस युग के प्रायः सभी दूसरे नायकों की

तरह, किसी भी हालत में छोड़ नहीं पाता। अपने उस आत्म-कामी मनोभाव के आगे वह पार्वती के एकनिष्ठ प्रेम, त्याग और तपस्या का कोई मूल्य नहीं मानता। वह उसके लिये अपने अहम् का तनिक भी बलिदान करने में समर्थ नहीं है। जब अपने माता-पिता से वह यह जान लेता है कि पार्वती अपेक्षा-कृत हीन कुल की है, तब उनकी इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह करने का साहस उसे नहीं होता। वह यह नहीं सोचता कि वह पुरुष है और उसके लिये अपने व्यक्तित्व के प्रसार के हजार रास्ते खुले हैं, पर पार्वती कुसंस्काराच्छन्न भारतीय समाज के सहस्रों दुर्लंघ्य बंधनों से जकड़ी हुई अबला नारी होने के कारण अपने लिये मुक्ति का कोई दूसरा पथ खोजने में असमर्थ है। यह समझ आत्मकामी देवदास में न होने के कारण वह समाज के प्रति विद्रोह न करके यह स्वीकार कर लेता है कि पार्वती से वह प्रेम भले ही करता हो, पर उससे वह विवाह नहीं कर सकता और न वह विवाह उचित ही है!

इसके बाद वह वेश्याओं के यहाँ जाकर, शराब पीकर चीतपुर के नरक में गर्क होने के लिये अपने विवेक के सारे बन्धन ढीले कर देता है और अन्त में रोगग्रस्त होकर अपने को मौत के मुँह में ढकेल देता है।

यह जो अत्यन्त हीन, पतित और असामाजिक नायक है, उसके संकीर्ण और आत्मकामी चरित्र पर शरत् ने ऐसी रोमांटिक रंगीनी चढ़ाई है, उसपर ऐसी मार्मिक समवेदनापूर्ण, काव्यात्मक रस-धारा बरसाई है कि अपने घोर पतन में भी देवदास महान् प्रमाणित होने लगता है! विश्लेषणात्मक विवेक और यथार्थवादी दृष्टि से रहित पाठकों पर उसका कैसा घातक प्रभाव पड़ता है यह आज किसी से छिपा नहीं है। हिन्दी

संसार में जब पहले-पहल फिल्म के रूप में देवदास का आविर्भाव हुआ तब मध्यवर्गीय शिक्षित नवयुवक "हाय देवदास! प्यारे देवदास!" कहकर आहें भरने लगे। हिन्दी के एक प्रसिद्ध लेखक ने अपना उपनाम ही 'देवदास' रख लिया!

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि शरत् ने पापी के प्रति करुणा की भावना से ईमानदारी से प्रभावित होकर एक घृणित समाजघाती कीड़े को किस कदर महीयान करने का प्रयास किया था और अपनी कलात्मक निपुणता से किस हद तक उसमें सफलता भी पाई थी।

यहाँ पर स्वभावतः यह प्रश्न उठेगा कि यदि लेखक पापी के प्रति करुणा उभाड़ कर मनुष्य के भीतर निहित देवत्व को जगाता है तो इसमें कौन बुराई है? यह महाकविजनोचित उदार गुण ही है, यह उदाराशयता निन्दनीय कैसे हो सकती है? मैं मानता हूँ कि इस तर्क में बहुत सार है। साथ ही शरत् के उद्देश्य की सचाई और आशय की उच्चता की मैंने बराबर सराहना की है। पतितों, समाज-दलितों और उपेक्षितों के भीतर निहित मनुष्यत्व उभार कर रखने की प्रवृत्ति अपने-आप में कितनी महान है और इस महानता की रक्षा शरत् ने किस हद तक की है, इसपर मैं दूसरे निबंधों में भी काफी प्रकाश डाल चुका हूँ। पर खराबी तब आती है जब पापी के प्रति करुणा उभाड़ने के साथ ही लेखक पाप के प्रति घृणा उभाड़ने के अपने महत्वपूर्ण कर्तव्य को भूल जाता है। स्मरण रहे कि 'पाप' से मेरा आशय यहाँ पर समाजघाती प्रवृत्तियों से है। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि पापी नायक के प्रति समवेदना एक बात है और उसे अपनी चारित्रिक

दुर्बलताओं के कारण ही 'महान्' सिद्ध करना दूसरी बात। देवदास की सारी हीनताओं के बावजूद (बल्कि उसकी उन्हीं हीनताओं के कारण) लेखक ने अन्त तक उसे महान् और आदर्श नायक सिद्ध करने के प्रयत्न में कोई बात उठा नहीं रखी है। जिस वेश्या के यहाँ वह शराब पीकर पड़ा रहता, उसके और स्वयं पार्वती के मुख से उसे 'देवता' कहलाया गया है। जिस नायक में समाज में प्रचलित कुसंस्कारों से लड़ कर एक नया और प्रगतिशील सामाजिक आदर्श खड़ा करने का दम नहीं है और जो कुसंस्कारों और कुप्रथाओं से जकड़े हुए समाज की वश्यता स्वीकार कर, उससे दब कर शराब की बोतलों में अपने को डुबा कर और वेश्याओं के यहाँ पड़े रह कर नैतिक और बौद्धिक आत्महत्या द्वारा अपनी मुक्ति का विकृत उपाय खोजता है, वह यदि देवता है तो फिर नारकीय कीड़ा कौन है! सच्चे यथार्थवादी आदर्श को अपनाने वाले कलाकार का कर्तव्य यह होना चाहिये कि वह पतितों के प्रति समवेदना रखता हुआ भी, निर्मम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उन्हें अपनी आत्मघाती और असामाजिक प्रवृत्तियों के प्रति तीव्र रूप से सचेत करावे और उनसे मुक्ति पाने के ठोस उपायों का निदर्शन अपनी कलात्मक प्रतिभा द्वारा करे।

'पापी के प्रति करुणा' एक ऐसी लोकप्रचलित और लोकप्रिय उक्ति है जिसे उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य कवियों और कलाकारों ने एक फैशन में परिणत कर दिया था। उन्होंने ऐसे-ऐसे नायकों की सृष्टि की जो अपनी आत्मकामी प्रवृत्ति के फलस्वरूप घृणित से घृणित सामाजिक अपराध करने पर भी, केवल अपने स्वभाव की भावुकता के कारण 'देवता' प्रमाणित किये जाने लगे। उदाहरण के लिये डास्टाएव्सकी के प्रसिद्ध

उपन्यास 'अपराध और दंड' का घोर आत्मरत नायक एक 'सुपरमैन' (लोकोत्तर पुरुष) बनने के प्रयत्न में दो वृद्धाओं की निर्मम हत्या कर डालता है और अन्त तक अस्वस्थ मानसिक जीवन बिताता है। पर केवल इस कारण कि वह सोनिया नाम की एक असहाय वेश्या से प्रेम करने लगता है, डास्टाएव्सकी ने उसे महान् आत्मा सिद्ध करके उसके प्रति केवल पाठकों की सहानुभूति ही नहीं जगाई है, बल्कि प्रशंसा भी उभाड़ी है। हिन्दी में इस उपन्यास का एक अनुवाद कई वर्ष पूर्व छपा था। उसका नाम ही 'पवित्र पापी' रखा गया अर्थात् घोर मूर्खता और झूठी महत्वाकांक्षा की चरितार्थता के लिये दो निरपराध स्त्रियों की निर्मम हत्या करने के बाद भी डास्टाएव्सकी का वह पापी नायक पवित्र ही बना रहा, इस धारणा से हमारे अनुवादक महोदय भी मुक्त न हो सके। इस तरह के बहुत से उदाहरण उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे रूसी उपन्यासों तथा ह्यूगो से लेकर मोपासां तक के फ्रांसीसी लेखकों की रचनाओं में पाये जा सकते हैं। बीसवीं शती के प्रारंभिक काल के भारतीय कवियों और लेखकों ने भी इसी भावधारा को अपनाया। शरत् की रचनाओं में यह विशेषता सबसे अधिक सुस्पष्टता और कलात्मकता के साथ परिस्फुट हुई है। पर इस सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि यह भावधारा किसी निश्चित मानवीय कल्याण के आदर्श पर खड़ी है या कोरी कविजनोचित भावुकता पर।

'अपराध और दंड' के उपन्यासकार ने यदि केवल पापी नायक के प्रति करुणा या समवेदना ही जताई होती तो इस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती थी। पर उसने उस पर महापुरुषत्व आरोपित करना चाहा है। उसकी मानसिक

अस्वस्थता और आत्म-रति को एक दयनीय असामाजिक रोग के लक्षण न बताकर एक महान् प्रतिभाशाली विचारक और दार्शनिक की गहन चिंतनशीलता बताया गया है।

यही बात शरत् के 'देवदास', 'चरित्रहीन', 'श्रीकांत' आदि उपन्यासों के नायकों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। 'देवदास' के मूल भाव की व्याख्या की जा चुकी है। 'चरित्रहीन' का नायक सतीश भी देवदास की ही तरह अपने दुर्बल स्वभाव के कारण न तो समाज के कुसंस्कारों के विरुद्ध विद्रोह करने में समर्थ होता है और न उन्हें पूर्णतया मानकर ही चल पाता है। फल यह होता है कि वह शराब में और बुरी सोहबत में अपने को पूर्णतया डुबा कर घोर आत्मगत जीवन बिताने लगता है। इसी स्थिति में वह सावित्री नाम की एक स्त्री से प्रेम करने लगता है, जो परिस्थितियों की विवशता के कारण एक नौकरानी का जीवन बिताती है। सावित्री भी उसके प्रति अत्यन्त संवेदनशील हो उठती है और उसे चाहने लगती है, पर अपने नारीत्व की मर्यादा का उल्लंघन नहीं होने देती। सावित्री का प्रेम चूँकि एक स्थिर और निश्चित आधार पर प्रतिष्ठित है इसलिये वह उस चरित्रहीन को चाहने पर भी उसे कभी आत्म-समर्पण नहीं करती। सतीश कुछ ही समय बाद एक दूसरी स्त्री से प्रेम करने लगता है और उससे उसका विवाह भी हो जाता है। सावित्री जानती थी कि जिस दुर्बल प्राणी को वह चाहती है उसमें इतना चरित्र-बल नहीं है कि वह समाज के विरुद्ध विद्रोह करके उसके साथ स्थायी वैवाहिक सम्बन्ध में बँध सकेगा। पर शरत् ने अपने नायक की सारी दुर्बलताओं के बावजूद उसे अत्यन्त उदाशय और महान् आत्मा के रूप में प्रदर्शित करने के प्रयत्न में कोई बात उठा नहीं

रखी। उनकी कला के जादू से प्रभावित होकर साधारण पाठक भी उस नायक को महान् मानने लगता है और उसकी असामाजिक प्रवृत्तियों को उसकी महानता के ही लक्षण समझने लगता है।

आज के युग के मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी उपन्यासकार की दृष्टि में यह 'एप्रोच' अत्यन्त भ्रामक और समाजघाती है। अपने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अस्त्रों से वह अपने पात्रों के अंतर को स्तर-प्रति-स्तर चीर कर उसके मनोविकारों की चीर-फाड़ वैज्ञानिक बारीकी से करता है और यह प्रमाणित कर देता है कि व्यक्ति की जो दुर्बलताएँ भावुकता का रंगीन चश्मा आँखों में लगाने पर और छिछले 'मनोवैज्ञानिक' स्तर से देखने पर अत्यन्त महत् और श्रद्धा-योग्य लगती हैं, वे वास्तव में रुग्ण मनोविकारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होतीं।

यदि आज का मनोवैज्ञानिक कलाकार देवदास या सतीश का चरित्रांकन करने बैठे तो उनके आत्मकामी मन के भीतर—अवचेतना में—अज्ञात रूप से निहित समस्त विकारों की चीर-फाड़ बड़ी सूक्ष्मता से करके वह यह दिखायेगा कि किस प्रकार उन विकारों का परिष्करण हो सकता है और किन उपायों से उन्हें स्वस्थ मनोवृत्तियों में परिवर्तित किया जा सकता है। यह ठीक है कि उसके निर्मम विश्लेषण के फलस्वरूप देवदास देवता के बदले एक घोर अस्वस्थ कीड़ा प्रमाणित होगा, पर वह कीड़ा मनुष्य कैसे बन सकता है इसका निर्देशन भी उसी मनोविश्लेषिक 'एक्स-रे'-परीक्षण और चीर-फाड़ द्वारा ही उपयुक्त रीति से हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का उल्लेख करते हुए यहाँ पर और बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। शरत्चंद्र के

सम्बन्ध में यह धारणा अभी तक पाई जाती है कि मनोविश्लेषण को ही उन्होंने अपने पात्र-पात्रियों के चरित्रांकन का प्रधान साधन बनाया था। मेरा इस सम्बन्ध में कुछ विनम्र मतभेद है। यह मैं मानता हूँ कि आधुनिक भारतीय साहित्य में सबसे पहले उन्हीं ने मनोवैज्ञानिक साधन का प्रयोग विशेष रूप से किया। पर जिस स्तर के मनोविज्ञान को उन्होंने अपनाया वह भाव-विज्ञान (साइन्स ऑफ इमोशन्स) से अधिक गहरा नहीं था।

आज के युग में मनोविज्ञान बहुत आगे बढ़ चुका है। आज के कुछ विशिष्ट उपन्यासकारों (पाश्चात्य और भारतीय दोनों) को मनुष्य के अंतर-रहस्यों की जिन सूक्ष्मताओं का पता लग चुका है उनकी कल्पना भी शरत् के युग के उपन्यासकार नहीं कर सकते थे। केवल फ्रायड की मनोवैज्ञानिक खोजों की ही बात मैं नहीं कह रहा हूँ—हालांकि शरत् उनसे भी भलीभाँति परिचित नहीं थे। आज के युग, के कुछ विशिष्ट उपन्यासकार फ्रायड के अतिरिक्त युंग, आडलर, सार्त्र आदि की मनोवैज्ञानिक खोजों की सीमाओं को भी पार करके बहुत आगे निकल चुके हैं। सूक्ष्म वैयक्तिक मनोविश्लेषण के माध्यम से वे सामाजिक मनोविज्ञान के एक नये, स्वस्थ और व्यापक कल्याणकारी पहलू की खोज कर चुके हैं और उसी क्षेत्र में और भी नये-नये तत्वों की खोज करते चले जा रहे हैं। हिन्दी के जिन विशेष उपन्यासकारों को आज आलोचना की अंध-परंपरा के अनुसार फ्रायडवादी कहा जाता है वे भी फ्रायडियन सिद्धांतों की गहराई में पैठने के बाद, उनकी सीमाओं और त्रुटियों से परिचित होकर उनसे बहुत आगे बढ़ चुके हैं और किसी विशेष 'स्कूल' के मनोविज्ञान की चाहरदीवारी में न बँध कर युग को

व्यापक सामाजिक जटिलताओं के समाधान के लिये अपने निजी चिंतन और अनुभवों के फलस्वरूप कुछ विशिष्ट और व्यापक मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का आविष्कार कर चुके हैं।

पर बात चल रही थी शरत् के मनोवैज्ञानिक प्रयोग के सम्बन्ध में, जैसा कि मैं बता चुका हूँ, शरत् फ्रायडियन सिद्धांतों तक से भलीभांति परिचित न थे। एक बार मैंने उनके आगे फ्रायड की चर्चा चलाई थी तब वह अपने द्वितीय युग के अंतिम छोर पर थे। मैंने उनसे पूछा कि उन्होंने अपने पात्रों के चरित्रांकन में फ्रायडियन मनोविश्लेषिक पद्धति से लाभ क्यों नहीं उठाया ? उन्होंने कहा—"इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि मैंने फ्रायडियन सिद्धांतों का अध्ययन भलीभांति नहीं किया। छुटफुट रूप से जितना कुछ इस सम्बन्ध में मैंने जाना है, उससे मेरे मन में यह धारणा जम गई है कि यह पद्धति मेरे अनुकूल नहीं पड़ेगी।"

पर बाद में उन्होंने नये और प्रयोगशील मनोविश्लेषिक विज्ञान का भी किसी हद तक अध्ययन किया था। इसी कारण 'शेष प्रश्न' में स्त्री-पुरुष के सामाजिक सम्बन्ध पर उनका दृष्टिकोण और 'एप्रोच' बदला हुआ पाया जाता है—हालांकि उनके उस नये दृष्टिकोण में बहुत-सी उलझनें रह गई हैं।

शरत् ने अपने रचना-काल के द्वितीय चरण में सामाजिक क्षेत्र में क्रांति अवश्य मचाई, पर वह क्रांति सामाजिक कुसंस्कारों के मूल में आघात नहीं कर सकती थी। इसका एक कारण यह भी था कि अपने युग के समाज के प्रति खुला विद्रोह करने का उद्देश्य उनका नहीं था। अक्सर यह कहा जाता है कि शरत् ने नारी-जाति का पक्ष लेकर उन्हें अपने उपन्यासों में बहुत ऊँचा उठाया है। यह भी कहा जाता है, उनके सभी

प्रधान नारी-चरित्र समाज के प्रति विद्रोही रहे हैं। मुझे इन दोनों बातों में विशेष सचाई नहीं दिखाई देती है।

इसमें संदेह नहीं कि हम उनके नारी-चरित्रों में भारतीय नारी की परंपरागत गौरव-गरिमा को अक्षुण्ण पाते हैं और शायद इसी कारण हम दो-एक अपवादों को छोड़ कर उनके अधिकांश नारी-चरित्र में समाज के अत्याचारों के प्रति खुला विद्रोह नहीं पाते। यह बात दूसरी है कि विद्रोह के बीज अत्यंत सूक्ष्म रूप में उनके भीतर निहित हैं पर उसका सुस्पष्ट प्रस्फुटन शरत् के द्वितीय युग के नारी-चरित्रों में नहीं पाते। उदाहरण के लिये 'श्रीकांत' की अन्नदा दीदी को लीजिये। वह चाहे कैसी ही तेजस्विनी क्यों न रही हो, उसे अंततोगत्वा अपने नृशंस, लंपट और धूर्त पति के साथ विधर्मी बन कर, बद्दुओं का जीवन विताकर, एकमात्र उसी की सेवा में अपने तन, मन और यौवन को अर्पित कर देना पड़ता है। उसकी सारी तेज-स्विता उस नरपशु के बर्बर अत्याचारों को मौन भाव से सहने, उसके पाले हुए साँपों की देख-भाल करने, उसके लिये भोजन और गाँजा जुटाने में ही खर्च हो जाती है। विद्रोह के बीज अन्नदा दीदी के भीतर निहित अवश्य हैं, तभी तो वह सामा-जिक परपंरा त्यागकर, घर छोड़कर विधर्मी पति का साथ देती है, पर श्रीकांत की ही कमया की तरह वह उस घोर बर्बर पति के अत्याचारों का विरोध नहीं करना चाहती।

उसी प्रकार पार्वती को देवदास द्वारा ठुकराये जाने पर एक निर्जीव, निःसत्व और वृद्ध पति को स्वीकार करना पड़ता है। वह अपना सामाजिक कर्तव्य समझ कर सहर्ष उस अनुचित वैवाहिक सम्बन्ध को स्वीकार करती है और साथ ही विश्वा-सघाती, दुर्बल-प्राण और चरित्रहीन नायक को मन ही मन

भजती रही और उसे 'देवता' कहती है। यदि पार्वती में युग के अंध आदर्शों के प्रति विद्रोह करने की समर्थता होती तो वह न वृद्ध पति से विवाह करने को राजी होती न देवदास द्वारा अत्यन्त अपमानकर विधि से ठुकराये जाने पर कभी एक पल के लिये भी अपने मन में स्थान देती।

इसी तरह 'चरित्रहीन' की नायिका यह जानने पर भी कि सतीश एक दूसरी लड़की से प्रेम करने लगा है और उससे विवाह करना चाहता है, स्वयं उस विवाह को सम्पन्न करने में सहायक सिद्ध होती है और उस सिद्धांतहीन नायक को यह आश्वासन देती है कि वह दूसरी लड़की से उसका विवाह हो जाने के बाद भी बराबर उसी को अपना मन अर्पित किये रहेगी। क्या इस प्रकार की घोर अवमानना और अगौरवपूर्ण परिस्थिति को स्वेच्छा से स्वीकार करने में ही नारीत्व की चरम महानता है? स्वयं शरत् ने अपने बाद के उपन्यासों द्वारा अपने इस दृष्टिकोण का खंडन किया है।

यहाँ तक मैंने शरत् के रचना-काल के दूसरे और तीसरे चरण की चर्चा की है। तृतीय चरण में उनकी दो रचनाओं पर हमारा ध्यान विशेष रूप से जाता है। वे दो रचनाएं हैं— 'पथेर दावी' और 'शेष प्रश्न'।

इन दो रचनाओं में शरत् वास्तविक अर्थ में अपने युग के क्रान्तिकारी विचारक कहे जाने के अधिकारी सिद्ध होते हैं। इन रचनाओं में पहली बार हम देखते हैं कि शरत् ने प्रचलित सामाजिक संस्कारों और अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध विद्रोह करने का दम भरा है। उदाहरण के लिये 'शेष प्रश्न' की नायिका कमल इस बात पर विश्वास नहीं करती कि वैवाहिक बन्धन को हर हालत में स्थायित्व देना ही होगा और वह अपने इस

विश्वास को कार्य रूप में परिणत करके दिखाती है। कमल के इस विचार से चाहे किसी का मन मिले या न मिले, पर इससे कम से कम इतना तो प्रमाणित होता ही है। शरत् ने अपनी एक नायिका को प्रचलित संस्कारों के विरुद्ध वास्तविक अर्थ में विद्रोही बनाकर उसे अत्यन्त दृढ़ता के साथ साहित्य-समाज के आगे लाकर प्रतिष्ठित किया है।

'पथेर दावी' की नायिका भारती, जो एक क्रान्तिकारी दल की सदस्या है, कुछ रहस्यमय मनोवैज्ञानिक कारणों से अपूर्व जैसे कायर-प्रकृति युवक को चाहने लगती है। पर उसके प्रति आत्म-समर्पित करने के लिये वह 'चरित्रहीन' की सरोजिनी की तरह विकल नहीं होती, और न 'देवदास' की पार्वती की तरह ही उसे मन-ही-मन स्नेहपूर्ण श्रद्धा के साथ भजती है। वह लम्बे अर्से तक अपूर्व की आंतरिक कायरता को दूर करने के प्रयत्नों में लगी रहती है और तभी उसे अपनत्व देती है जब वह जान लेती है कि वह हर दृष्टि से उसके वश में आ चुका है।

शरत् के रचना-काल के तीसरे चरण के बारे में कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि शरत् ने भारतीय साहित्य की प्रगति में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मील के पत्थर की स्थापना की। पर उसकी स्थापना के लिये उन्हें लम्बे अर्से तक बहुत-सी रूढ़िगत सामाजिक परम्पराओं से उलझना पड़ा और उन परम्पराओं से स्वयं अपने को मुक्त करने के लिये उन्हें बड़ा परिश्रम और कठोर साधन करनी पड़ी।

शरत्चंद्र की लोकप्रियता के कारण

शरत्चन्द्र उस युग में अवतरित हुए थे जब बंगाल के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी समाज में आर्थिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और सामूहिक मनोवैज्ञानिक कारणों से वाह्य जीवन और भाव-जगत् की परिस्थितियों के प्रति तीव्र असंतोष फैलने लगा था। प्रथम महायुद्ध छिड़ चुका था और उसकी विश्व-व्यापी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक तूफानी झोंका भारत के जड़, निर्जीव और वैचित्र्यहीन जीवन में भी उथल-पुथल मचाने लगी थी। उस झोंके के स्पर्श से एक ओर प्रायः मृत पड़ी हुई राष्ट्रीय चेतना फिर से पूरी ताकत से विस्फुटित होने के लिये व्याकुल हो रही थी, दूसरी ओर सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना भी नये, व्यापक और गहरे रूपों में प्रस्फुटित होने के लिये बेचैन थी। एक ओर-राष्ट्रीय क्षेत्र में-गांधी के आगमन के लिये उपयुक्त वातावरण अपने-आप धीरे-धीरे तैयार होता जा रहा था, दूसरी ओर साहित्य में नयी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों, नयी दिशाओं और नयी धाराओं के स्वागत के लिये जनता तैयार बैठी थी। सारा वातावरण उस विद्रोही प्रतिभा का मूक आवाहन कर रहा था जिसके प्रतीक बाद में शरत्चन्द्र सिद्ध हुए।

उस समय रवीन्द्र-साहित्य को छोड़कर शेष बंग-साहित्य पुरानी रूढ़ियों के दलदल में फँसा हुआ अन्तिम सांसें गिन रहा था। यद्यपि जनता सुस्पष्ट रूप से यह नहीं जानती थी कि वह ठीक किस प्रकार के नवीन साहित्य की प्रत्याशा करती है, पर इतना अवश्य महसूस करती थी कि उसे ऐसे साहित्य की

आवश्यकता है जो उसके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दासता से कुचले हुए प्राणों में एक नया जीवन जगा सके, एक नयी चेतना फूंक सके।

मध्यवर्गीय शिष्ट समाज के भीतर एक ओर रूढ़िगत प्रेम के विरुद्ध विद्रोह जगने लगा था और दूसरी ओर उस विद्रोह को प्रकट करने का साहस किसी में नहीं था। शरत् ने ही इस संबंध में पहला कदम उठाया। उनकी जो पहली कृति पुस्तकाकार प्रकाशित हुई वह थी 'बड़ी दीदी' अर्थात् 'बड़ी बहन'। इस उपन्यासिका में भी मध्यवर्गीय भद्र समाज के संस्कारों में पले हुए एक अनमने स्वभाव के शिष्ट और शांत युवक का एक भले घर की स्नेहशीला विधवा के प्रति शुद्ध प्रेम बड़ी ही चतुर कलाकारिता और मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है। एक दिन जब वह विधवा उसके गाँव में आती है तब वह यह सुनकर कठिन रोग में शय्यागत होने पर भी उठकर घोड़े पर सवार होकर उसके स्वागत के लिये जाता है और उस विधवा की गोद में उसकी मृत्यु हो जाती है। बड़ी ही चतुराई और सावधानी से शरत् ने इस समाज-निषिद्ध प्रेम का सुन्दर चित्रण किया है जिससे रूढ़िग्रस्त समाज एकदम बागी न हो उठे, बल्कि एक सच्ची समवेदनात्मक अनुभूति से उस महत्वपूर्ण समस्या पर विचार करे।

'चरित्रहीन' 'चन्द्रनाथ', 'श्रीकांत', 'आंधारे आलो' (अंधेरे में उजाला) आदि रचनाओं में भी शरत् ने इस प्रकार की समस्याएँ उठायी हैं। 'चरित्रहीन' में दिखाया गया है कि एक निकम्मे उच्छृंखल, चरित्रहीन किन्तु सहृदय युवक के प्रति एक विधवा नौकरानी का स्नेहभाव किस प्रकार पारस्परिक प्रेमाकर्षण में परिणत हो जाता है। पर वह विधवा अपना मन उस

युवक को पूर्णतया अर्पित करने पर भी तन को अस्पृश्य रखती है। वह सुस्पष्ट ही परंपरागत धार्मिक और सामाजिक संस्कारों से मुक्त होने की क्षमता अपने में नहीं पाती। 'चन्द्रनाथ' में एक कुलटा स्त्री की जारज लड़की से एक भद्र युवक का प्रेम विवाह में परिणत होता है, पर बाद में सत्य उद्घाटित होने पर दोनों एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। 'श्रीकांत' में एक वेश्या से नायक का 'शिष्ट प्रेम' बड़े लम्बे चक्करों के साथ चलता रहता है।

शरत् की विशेषता इस बात में है कि समाज में प्रचलित रूढ़ियों के विरुद्ध उन्होंने विधवाओं और वेश्याओं के साथ उत्तरदायित्वहीन भावुक नवयुवकों की प्रेम संबंधी अनुभूति का चित्रण करते हुए भी उन रूढ़ियों पर तीव्र आघात नहीं किया है। समाजपतियों को गहरा धक्का पहुँचाने का प्रयत्न उन्होंने कभी नहीं किया। उनके नायक-नायिकाओं के मानसिक प्रेम-संबंध परंपरागत धार्मिक और सामाजिक संस्कारों की मान्यताओं को काफी हद तक स्वीकार करते हुए चलते हैं। देवदास की मानसिक पीड़ा का कारण ही यह था कि वह सामाजिक मान्यता के विरुद्ध विद्रोह करके अपने से नीचे कुल की लड़की से विवाह करने की क्षमता अपने में नहीं पाता था। शरत् के किसी भी नायक को अपनी वेश्या प्रेमिका से विवाह करने का साहस नहीं हुआ, किसी भी विधवा में अपने प्रेमिक से सामाजिक बंधन में बंधने योग्य अंतर-विश्वास न जग सका। इन दृष्टान्तों से प्रमाणित होता है कि शरत् ने विद्रोह की अस्पष्ट और सुकुमार मर्म-वेदना अवश्य जगायी, पर विद्रोह की प्रचंड आग सुलगाना उन्हें अभीष्ट नहीं था। वह समाज की कमजोरी जानते थे और उसे ऐसा धक्का नहीं देना चाहते थे जिससे

सारा रूढ़िग्रस्त समाज उनका विरोधी हो उठे। उनकी बहुत बड़ी लोक-प्रियता का एक प्रमुख कारण यह भी है। यदि वह पहले ही विद्रोह की आग सुलगा कर सारी सामाजिक रूढ़ियों को विनष्ट करने का बीड़ा उठा लेते तो वह केवल उच्छृँखल नव-युवकों के बीच में ही लोकप्रिय होकर रह जाते और पुरानी पीढ़ी के लोगों, भारतीय परंपरा के सहस्रों बंधनों से ग्रस्त स्त्रियों और 'सद्गृहस्थ'-परिवार से संबंधित नयी पीढ़ी के युवकों में उनका और उनकी रचनाओं का मान न हो पाता। आज के युग के प्रगतिशील मनोविज्ञान और समाजविज्ञान की दृष्टि से शरत की तत्कालीन रचनाएं प्रतिक्रिया-वादी लगती हैं। पर यदि हम उस युग की परिस्थितियों पर विचार करें तो वे बहुत प्रगति-शील लगेंगी।

जब शरत् ने 'शेष प्रश्न' लिखा तब समाज काफी आगे बढ़ चुका था। इसलिये उसमें उन्होंने पूरी शक्ति से सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने का साहस दिखाया है और स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंध पर अपने मूलतः क्रांतिकारी विचार प्रकट किये हैं। भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक नैतिक आचरण के संबंध में जो धर्मशास्त्रीय धारणाएं युगों से चली आ रही हैं उनके मूल में उन्होंने कठोर आघात किया है। यदि इस तरह के विचार उन्होंने प्रारंभ ही में प्रकट करना शुरू कर दिया होता तो वह एक सीमित प्रगतिशील समाज में भले ही श्रेष्ठ लेखक माने जाते, किन्तु लोकप्रिय लेखक वह हरगिज न बन पाते। इसलिये वह समय के साथ चलते रहे। इससे पता चलता है कि शरत्चंद्र कितने बड़े चतुर पर्यवेक्षक थे और सर्व-जनप्रिय बनने की कला में कैसे सिद्धहस्त थे, पाठकों की रुचि को पकड़ने वाले उपन्यास किस तरह लिखे जाने चाहिये, इस

संबंध में वह अक्सर अपने शिष्यों के बीच में व्याख्यान देते रहते थे। गरज यह कि वह समय की और अपने पाठकों की नब्ज पहचानते थे। और यही उनकी लोकप्रियता की मूल कुंजी थी।

जीवन का अनुभव शरत् को बहुत अधिक था। छुटपन से ही वह अपने आस-पास के जीवन का निरीक्षण बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ करते रहते थे, जीवन से अलग रहकर नहीं, उसके भीतर घुलमिल कर। समाज के निम्नतम स्तर से लेकर उच्चतम स्तर तक के जीवन के बीच में उन्हें घनिष्ठ रूप से रहने का अवसर मिला था-बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वह ऐसे अवसर स्वयं खोजते फिरते थे। हरिजनों, किसानों, मजदूरों, साधु-संन्यासियों, गुंडों, शोहदों, आवारों, सद्गृहस्थों, पुराणपंथियों से लेकर महान आदर्श-वादियों, राष्ट्रीय कार्य-कर्त्ताओं, कांग्रेसी नेताओं, क्रांतिकारियों और प्रगतिवादियों तक उनकी पहुँच रही है और सभी के घनिष्ठ संपर्क में वह आये थे। इसलिये उनका अनुभव बहुत व्यापक था। पर केवल व्यापक अनुभव होने से ही कुछ नहीं होता। इससे कई गुना अधिक विशेषता उनकी यह रही है कि उन्होंने उस बहुमुखी जीवन का अध्ययन, मनन और विवेचन बड़ी ही गहराई से किया। और केवल अध्ययन और विवेचन ही करके नहीं रह गये, बल्कि जीवन के विविध क्षेत्रों में उन्होंने सक्रिय भाग भी लिया। इन सब कारणों से वह जीवन का जो सच्चा चित्र उतार सके वह अपना एक निजी महत्व रखता है।

हर तरह के पाठकों को शरत् की रचनाओं में अपने-अपने मन की खुराक मिल जाती है, क्योंकि उन्होंने प्रायः सभी क्षेत्रों से अपने पात्र-पात्रियों को चुना है। उनकी पात्रियों की लम्बी

सूची से इस बात का पता आसानी से लग सकता है कि कैसे परस्पर-विरोधी चरित्रों की अवतारणा उन्होंने की है। श्रीकांत की 'अन्नदा दीदी' और 'चरित्रहीन' की सुरबाला जैसी मूलतः सती-साध्वी स्त्रियों से लेकर और किरणमयी जैसी असती स्त्रियों और वेश्याओं तक का चरित्र-चित्रण उन्होंने किया है, और कहीं कोई उलझन उन्हें महसूस नहीं हुई है। 'श्रीकांत' के इन्द्र जैसे अशिक्षित और आवारा किन्तु विशाल-हृदय और दृढ़-चरित्र पात्रों से लेकर देवदास और 'पथेर दावी' के अपूर्व जैसे दुर्बलप्राण और कायर पात्रों का चरित्रांकन उन्होंने बड़े कौशल से किया है।

प्रारंभ में शरत् ने जिस तरह की रचनाएं छपायी थीं वे अधिकतर पारिवारिक जीवन से संबंधित थीं। बंगाल के मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन का ऐसा सच्चा और सम्मोहक चित्रण अन्यत्र मिलना कठिन है। इन पारिवारिक चित्रों में उन्होंने नारी के भीतर निहित सहज मातृत्व को ऐसी सुन्दर कलात्मक और अपूर्व रचना-कौशल के साथ उभार में लाकर रक्खा है कि हृदय उन नारी-पात्रों के प्रति श्रद्धा के भाव से गद्गद हो जाता है। बंगाल के मध्यवर्गीय समाज में तब तक पारिवारिक भावनाओं को बहुत बड़ा महत्व दिया जाता था और पारिवारिक जीवन में संबंधित उपन्यास बहुत पसंद किये जाते थे। शरत् ने जब उसी माध्यम से साहित्य के प्रांगण में पाँव रक्खा तब पहली ही बार से अपनी कुशल कलाकारिता द्वारा वह इस श्रेणी के सभी लेखकों से बहुत आगे बढ़ गये। यह तथ्य भी उनकी लोकप्रियता को प्रारंभ ही से बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ। उनके पास ऐसी रचनाएं पहले ही से तैयार थीं जो समाज को किसी कदर चोट पहुँचाती थीं। पर उन्हें शरत्

ने पहले नहीं छपाया। वह पहले पारिवारिक जीवन की स्निग्धता को अपनी कला द्वारा परिस्फुट करके मध्यवर्गीय परिवारों में से ही बिना किसी विरोध के एक खासे अच्छे पाठक-वर्ग को अपनी ओर खींच लेना चाहते थे। और फिर धीरे-धीरे उन्हीं पाठकों का ध्यान समाज के विस्फोटात्मक तत्त्वों की ओर आकर्षित करना आरंभ किया। उन्होंने बड़ी ही सावधानी से अपना एक-एक साहित्यिक कदम आगे बढ़ाया है।

अक्सर यह कहा जाता है कि शरत् ने विद्रोहिणी नारियों की सृष्टि की है, पर वास्तविकता यह है कि उनके अधिकांश नारी पात्रों के चरित्र में विद्रोह का ऊपरी आभास भले ही वर्तमान रहा हो, समाज को कँपा देने वाला, रूढ़ियों को ध्वस्त करने वाला विद्रोह उनमें कभी वर्तमान नहीं रहा। उनका विद्रोह उस तूफान की तरह है जो समुद्र की मर्यादा को लांघित नहीं कर पाता। समाज की बाह्य व्यवस्था का पालन पूर्ण रूप से न करने पर भी शरत्चन्द्र की नायिकाएं महत्वपूर्ण विषयों में सदा समाज की मर्यादा को मानती चली गयी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाह्याचार की दृष्टि से शरत् के अधिकांश स्त्री-पात्रों में कैसी 'उच्छृँखलता' क्यों न पायी जाती हो, भारतीय संस्कार और समाज के प्रति वे सब उत्तरदायित्व पूर्ण है और इसी कारण उनके जीवन का आदर्श सुदृढ़ स्थिति पर प्रतिष्ठित है। जिन रूढ़िवादी आलोचकों ने शरत् की रचनाओं में सामाजिक उच्छृँखलता बतायी है उन्होंने केवल उनका बाहरी रूप ही देखा है; यह नहीं देखा कि उनका आधार भारतीय परंपरा और सामाजिक और पारिवारिक मर्यादा से किस तरह बंधा हुआ है। उच्छृँखलता और अनाचार का शरत्चंद्र ने बराबर विरोध किया है। किसी भी नायक अथवा

नायिका के उत्तरदायित्वहीन समाज-विद्रोह का समर्थन उन्होंने कहीं नहीं किया है। 'चरित्रहीन' की किरणमयी की दुर्गति का जो लोमहर्षक और मर्म-विदारक चित्रांकन उन्होंने किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। जिन समाज-बहिष्कृता कुलत्यागिनी अथवा कलंकिता नारियों के प्रति उन्होंने उदार समवेदना प्रदर्शित की है वे मीरा की तरह कुलकानि त्यागने पर भी अपनी निजी आत्मा, समाज और संसार के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निबाहती चली गयी हैं। अंतर केवल यही रहा है कि मीरा ने कृष्ण की काल्पनिक मूर्ति पर अपना तन, मन और प्राण निछावर करके रहस्यात्मक प्रेम-मिलन का पुलकोन्मादमय जीवन बिताया है और शरत् की प्रत्येक समाज-पीड़िता नारी ने वास्तविक जीवन के सजीव 'कृष्ण' के प्रेम में तन्मय होकर चिर-विरह की विह्वल वेदना को बिना किसी शिकायत के वरण किया है।

कालिदास ने प्रेम-वंचिता, दीर्घ विरह-व्रत-चारिणी शकुं-तला की सकरुण स्निग्ध-छवि का वर्णन इन मार्मिक शब्दों में किया है:—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्ध शीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥

दुष्यंत कहता है कि "धूसर वसन पहने हुए, कठिन नियमा-चार के कारण मुरझाये हुए चेहरे वाली एक वेणी धारण किये हुए यह शुद्धशीला शकुंतला मुझ अतिनिर्दयी के दीर्घ विरह-व्रत का पालन किये चली आती है!"

अति करुण वैराग्य की कोमल कमनीय वेदना का जो मूर्ति-मान रूप कालिदास ने इस अमर श्लोक में अंकित किया है,

शरत्चंद्र ने पार्वती, सावित्री, चंद्रमुखी, बिजली आदि चरित्रों में उसी की महिमा अधिकतर सघन रूप से चित्रित की है। कालिदास की शंकुतला दीर्घ विरह-व्रत-चारिणी रही है, पर शरत् की पूर्वोक्त नायिकाएं अनंत-कालीन विरह का महाव्रत मौन वेदना के साथ निबाहती चली गयी हैं। शकुंतला की विरह-व्यथा दीर्घ होने पर भी मिलन की महान आशा के आलोक से उज्ज्वल थी और वह आशा अन्त में सफल भी हुई। पर शरत् की नारियों को मिलने की प्रत्यक्ष सुविधाएं होते हुए भी वास्तविक मिलन से वे सदा दूर रही हैं और 'अनंतकालीन' विरह की अग्नि में स्वेच्छा से चिर-काल तक तपते रहना तो वे जीवन का महान आदर्श मान कर चली हैं। इस प्रकार तथाकथित आर्य-संस्कृति के निर्वाह का ध्यान भी शरत ने अपनी रचनाओं में रक्खा। यह भी एक बहुत बड़ा कारण उनकी देश-व्यापी लोकप्रियता का सिद्ध हुआ।

जीवनी

शरत्चंद्र और उनके जीवनी-लेखक

शरत्चन्द्र यद्यपि बीसवीं शताब्दी के लेखक थे, तथापि उनके जीवन का अधिकांश भाग प्रायः उतने ही रहस्यमय अंधकार में छिपा रह गया है जितना कालिदास, शेक्सपीयर और तुलसीदास का। फल यह देखने में आता है कि उनके जीवन के संबंध में उसी तरह की दंत-कथाएँ गढ़ी गयी हैं और गढ़ी जा रही हैं जैसी कालिदास या तुलसीदास के संबंध में। कालिदास के संबंध में प्रचलित इस लोककथा से सभी परिचित हैं कि वह महान मूर्ख थे और जिस डाल पर खड़े थे उसी को काट रहे थे। कुछ पंडितगण उन्हें यह सिखाकर कि तुम कुछ न बोलना, एकदम मौन रहना, एक राजकुमारी के पास ले गये। कालिदास के मौन संकेत का उलटा-सीधा अर्थ लगाकर उन्होंने यह सिद्ध किया कि राजकुमारी को शास्त्रार्थ में हरा दिया गया है और इस प्रकार, 'वज्रमूर्ख' कालिदास का विवाह उसके साथ हो गया! अंत में एक दिन वह मूर्ख कालिदास अपनी पत्नी के पांडित्य से लज्जित होकर घर से भाग निकला और कुछ वर्षों बाद पूर्ण पंडित होकर लौटा। उसे शुद्ध बोलते सुनकर पत्नी ने कहा: "अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः।" और पत्नी के मुँह से निकले हुए उन चार शब्दों में से प्रत्येक शब्द को लेकर कालिदास ने एक-एक महाकाव्य रचा। भोज-प्रबंध में तो कालिदास को एक लफंगा, वेश्यासक्त, व्यभिचारी और गुंडा चित्रित किया गया है। उसी प्रकार तुलसीदास के संदर्भ में यह कथा प्रचलित है कि वह अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक

आसक्त थे और एक बार जब वह मायके गयी हुई थी तब तुलसी उसके वियोग की ज्वाला सहन न कर सके और उसके यहाँ जाने के लिये घोर वर्षा में बाढ़ आयी हुई नदी में कूद पड़े और एक बहती हुई लाश पर चढ़कर नदी पार करके आधी रात में अपनी पत्नी के मकान के नीचे पहुँचे। पत्नी के कमरे की खिड़की से एक साँप लटक रहा था, उसको रस्सी समझकर उसे पकड़ कर खिड़की के रास्ते भीतर पहुँच गये। पत्नी ने जब उनकी यह आसक्ति देखी तब उन्हें धिक्कारते हुए कहा कि यदि ऐसी प्रीति राम के चरणों के प्रति होती तो तुम भवसागर पार कर लेते। पत्नी की यह बात तुलसीदास के मन में जम गयी और वह उसी क्षण से घर-बार छोड़कर रामभक्त बन गये।

शेक्सपीयर के संबंध में कहा जाता है कि वह एकदम मूर्ख और आवारा था और दूसरों के अहातों में घुसकर हिरन चुराकर अपनी जीविका चलाया करता था। बाद में लंदन में जाकर किसी नाटकघर के बाहर खड़े रहकर रईसों के घोड़ों की देख-भाल करता रहता था। उसके बाद उसे नाटक देखने का चस्का लगा और फिर स्वयं नाटक लिखने का शौक चर्राया, आदि-आदि। उसकी चतुर्दशपदी कविताओं (सानेट्स) के संबंध में उस पर जो गंदे आरोप लगाये जाते हैं, जिन विकृत अनुमानों को सत्य सिद्ध करने के प्रयत्न किये गये हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि महापुरुषों के जीवन से संबंधित घटनाओं के अकाट्य प्रमाण न मिलने पर जनता उन्हें छोटा-से-छोटा बनाने के लिये किस प्रकार उत्सुक हो उठती है और उन्हें अपने से भी हीन प्रमाणित करके किस प्रकार आत्म-संतोष प्राप्त करती है।

प्रचीन काल और मध्ययुग के महाकवियों और महान लेखकों के संबंध में प्रचलित इस प्रकार की दंतकथाओं पर विशेष आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि तब जनता किसी महापुरुष के जीवन से संबंधित सही-सही बातों और सच्ची घटनाओं का कोई महत्व नहीं मानती थी। तब केवल उनकी रचनाओं को ही महत्व दिया जाता था और आने वाली पीढ़ियों के लिये उन रचनाओं को सुरक्षित रूप में संग्रह किये चले जाने की ओर ही लोगों का ध्यान अधिक रहता था। किन्तु आश्चर्य तब होता है जब हम देखते हैं कि आज के लेखक भी प्रायः अपने ही युग के एक महान लेखक के जीवन से संबंधित यथार्थ घटनाओं और तथ्यों को बटोरने में असमर्थ सिद्ध होकर उनके विषय में फैली हुई तरह-तरह की मनगढ़ंत बातों को सत्य प्रमाणित करने में संलग्न हैं, और फैली हुई अफवाहों के अलावा स्वयं भी अपनी कल्पना से उनके संबंध में अविश्वसनीय बातों को गढ़कर, उन्हें एक अत्यंत हीन-चरित्र प्राणी के रूप में चित्रित करके उनके प्रति 'श्रद्धांजलि' अर्पित करने से नहीं चूकते।

शरत्चन्द्र के पैदा होने के समय से लेकर प्रौढ़ावस्था में कलकत्ते में सुव्यवस्थित रूप से जमने तक का जीवन-काल एक प्रकार से भूगर्भस्थ और रहस्यमय अंधकार में ढका हुआ रहा है, जिस पर उन्होंने बाद में भी, अपने घनिष्ठतम मित्रों के आगे भी, कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला। जो लोग उनके जीवन के प्रारंभिक काल में अथवा उनके बर्मा-प्रवास काल में बीच-बीच में क्षणिक रूप और बाहरी तौर से उनके संपर्क में आये वे उनके संबंध में केवल अपने छिटपुट संस्मरण बताकर रह जाते हैं, और वे छिटपुट संस्म-

-रण उनके जीवन की किसी भी महत्वपूर्ण घटना या पहलू पर प्रकाश नहीं डालते, बल्कि उनके व्यक्तित्व को गलत और विकृत रूप में सामने रखते हैं। कलकत्ता आकर जमने के बाद भी प्रारंभिक कुछ वर्षों तक वह एक प्रकार से छिपे ही रहे। बाद में वह न चाहने पर भी प्रायः सब समय भक्तों और तथाकथित चेलों से इस कदर घिरे रहने लगे थे कि उनकी बाहरी कार्रवाइयों में कुछ भी गोपनीयता नहीं रह पाती थी। पर भीतर से वह फिर भी रहस्यमय ही बने रहे। उनके तथाकथित जीवनी-लेखकों ने उनके द्वारा अपने जीवन पर स्वेच्छा से डाले हुए इसी रहस्यमयता के पर्दे का अनुचित लाभ उठाकर उनके संबंध में एकदम निराधार, गंदी और विकृत कथाएँ प्रचारित की हैं।

अभी शरत्चन्द्र के तथाकथित 'प्रामाणिक' जीवन से संबंधित एक बंगला पुस्तक मैं देख रहा था। उसमें लिखा है कि शरत्चन्द्र पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में जिस स्त्री के यहाँ रहकर खाते-पीते और स्कूली शिक्षा पाते थे उसी से उनका प्रेम हो गया और अनुचित संबंध भी! वहाँ से विवशता के कारण जब हटना पड़ा तब एक दूसरी स्त्री के प्रेम के चक्कर में फँस गये, जो विधवा थी। इसके बाद, उक्त लेखक के मतानुसार, एक-एक करके अनेक युवतियों में शरत् का प्रेम-संबंध स्थापित होता चला गया। इतना ही नहीं, लेखक ने यह सिद्ध किया है कि शरत्चन्द्र के सभी उपन्यासों की नायिकाएँ उनके वास्तविक जीवन की 'प्रेमिकाएँ' रही हैं!

जिन लोगों ने शरत्चन्द्र की रचनायें ध्यानपूर्वक पढ़ी हैं वे जानते हैं कि उनकी केवल एक ही रचना ऐसी है जिसके संबंध में यह भ्रम हो सकता है कि उसमें किसी हद तक शरत् का आत्म-चरित वर्णित है। वह रचना है 'श्रीकांत'। जब मैं

१६२२ में उनसे पहली बार मिला तब मेरे मन में भी कुछ इसी तरह का भ्रम था। इसलिये मैंने उनसे प्रश्न किया कि: "क्या 'श्रीकांत' छद्मरूप से आपका आत्म-चरित है?" उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह बताया कि यह धारणा एकदम गलत है। साथ ही उन्होंने यह कहा कि उनकी रचना के संबंध में जो इस तरह की गलत धारणा लोगों के मन में बन जाती है उससे उन्हें प्रसन्नता ही होती है, क्योंकि उससे यह प्रमाणित होता है कि उनकी रचना जीवन के कितने निकट है।

मुझे पूरा विश्वास है कि यदि 'श्रीकांत' में उनके आत्म-चरित की कुछ भी झलक होती तो वह मुक्त रूप से उसे स्वीकार करते। क्योंकि उन्होंने स्नेहवश अपने जीवन की बहुत-सी ऐसी बातें मेरे आगे प्रकट की थीं जिन्हें लोग साधारणतः अपने घनिष्ठ मित्रों से भी छिपाते हैं। इसके अलावा उन्होंने सुस्पष्ट शब्दों में मुझसे कहा था कि वह तथाकथित 'चरित्रहीनता' को कोई बड़ा दोष नहीं मानते और नीति-अनीति और श्लीलता-अश्लीलता के प्रश्न को हास्यास्पद समझते हैं। इसी सिलसिले में उन्होंने एक बात और कही थी: "उपन्यास के माध्यम से छद्मरूप में आत्म-चरित लिखने को मैं कायरता मानता हूँ। यदि मुझे आत्म-चरित ही लिखना होता तो मैं घोषणा के साथ आत्म-चरित ही लिखता। उपन्यास की आड़ में आत्मकथा को ढकने की क्या आवश्यकता थी? जिन लोगों में जीवन को व्यापक और गहरे रूप में देखने की शक्ति नहीं है, जो अपने अहम् की चहारदीवारी से बाहर झाँककर जीवन के सिंहावलोकन का दम नहीं रखते और जो अपनी कला में निरपेक्षता लाने में असमर्थ हैं वे ही अपने जीवन की गुप्त कथा को उपन्यास का रूप देते हैं।"

तब से उनकी उस बात पर संदेह करने का लेशमात्र कारण भी मेरे लिये नहीं रह गया और स्वयं एक उपन्यासकार होने के नाते मैं उनकी उस बात के महत्व को बहुत-कुछ समझने में समर्थ हूँ।

पर संसार में ऐसे संकीर्ण मन और संकुचित बुद्धि वाले व्यक्तियों की कमी नहीं है जो किसी भी महान लेखक पर अपनी ही मनोभावनाओं का आरोप लगाने के आदी हैं, और साथ ही जिन्हें महापुरुषों की छोटी-सी कमजोरियों को बहुत बड़ा बनाकर उनके जीवन पर झूठी कलंक-कालिमा पोतकर सनसनी फैलाने में विकृत सुख का अनुभव होता है।

मेरे सौभाग्य से जिन दिनों मैं शरत्‌चन्द्र के संपर्क में घनिष्ठ रूप से आया और उनका उदार स्नेह पाकर कृतकृत्य हुआ उन दिनों उनके यहाँ (शिवपुर, हावड़ा में) उनसे मिलने वालों की भीड़ नहीं रहती थी, केवल कुछ छिटपुट व्यक्ति काफी समय के अंतर से उनसे मिलने के लिये आते थे। इसलिये मुझे काफी अच्छा अवसर उनसे एकान्त में घनिष्ठ रूप से बातें करने के लिये मिल जाया करता था। उनकी उदारता का अनुचित लाभ उठाकर मैं इस कदर उनके मुँह लग गया था कि ढिठाई से भरे प्रश्न करने में नहीं सकुचाता था। अपने प्रिय कलाकार के जीवन के भीतरी पहलुओं को जानने का जो अदम्य और अमिट कुतूहल मेरे मन में घर किये हुए था उसकी प्रेरणा से मैं जब-तब उचित-अनुचित सभी प्रकार के प्रश्न उनसे कर बैठता था।

एक बार मैंने पूछा : "क्या आपने जीवन में कभी शराब का अनुभव प्राप्त किया है?"

"कई बार।"

"क्या कभी आप उस हद तक शराब में डूबे हैं जिस हद तक आपका देवदास डूबा रहता था ?"

वह मेरे संदेह पर सस्नेह मुस्कराये। बोले : "जीवन में मैंने छोटी-मोटी भूलें बहुत सी की हैं, पर अपनी मूर्खता को मैं उस सीमा तक कभी नहीं खींच ले गया। शराब को मैंने कभी नशे के रूप में ग्रहण नहीं किया, बराबर दवा के रूप में ही उसे पिया है—किसी शारीरिक रोग की दवा के रूप में नहीं, बल्कि अपने स्वभाव की एक कमी की पूर्ति के रूप में। मैं स्वभाव से 'इन्ट्रोवर्ट' (अंतर्वर्ती) हूँ, और बुद्धि से सामाजिक जीवन को पूर्णतः अपनाने पर भी व्यावहारिक रूप से समाज और समूह से भागना चाहता हूँ। समाज के बीच में बड़े ही संकोच का अनुभव करने लगता हूँ। इसलिये बीच-बीच में कभी-कभी दवा की मात्रा में थोड़ा सा मदिरा पी लेता हूँ और तब मैं समाज में सामाजिक प्राणियों की तरह ही रहने लगता हूँ, और उनके साथ सहज भाव से हेलमेल बढ़ा सकने में समर्थ होता हूँ। इधर तो मैंने दो-तीन महीने से एक बूँद भी नहीं पी है।"

"क्या कभी ऐसा भी अवसर आया है जब आप अपनी किसी रचना—कहानी या उपन्यास—को जल्दी पूरा करना चाहते हों, पर लिखने की प्रेरणा न मिल रही हो, और उस हालत में आप शराब पीकर, कृत्रिम उपाय से प्रेरणा प्राप्त करके लिखने बैठे हों ?"

"कभी नहीं। पी लेने के बाद मुझे लिखने की प्रेरणा कभी नहीं मिलती, उस हालत में मैं केवल अनुभव करता रहता हूँ, और जब कोई महत्वपूर्ण भाव या विचार उस हालत में भी

मेरे मन में उठने लगता है तब पास में कागज-कलम होने पर उसे नोट अवश्य कर लेता हूँ।"

शराब का प्रसंग मैंने इसलिये उठाया है कि शराबखोरी के लिये शरत् के तथाकथित जीवनी-लेखकों ने उन्हें बहुत बद-नाम कर रखा है और इन बदनाम करने वालों में ऐसे लोगों की संख्या अधिक है जो उनके प्रति 'परम श्रद्धा' का भाव जताते रहते हैं—जैसे इस तरह के झूठे या अर्द्धसत्य तथ्यों को बहुत बड़ा बनाकर दिखाये बिना वास्तविक श्रद्धांजलि प्रकट की ही नहीं जा सकती ! उनके जीवनीकारों ने उनकी शराबखोरी के संबंध में जो विचित्र और असंभाव्य कहानियाँ गढ़ी हैं उनमें से कुछ के उदाहरण पाठकों के विनोद के लिये नीचे देता हूँ।

एक कहानी यह है कि जब शरत्चंद्र रंगून में थे तब एक दिन उनके एक मित्र ने उन्हें यह खबर दी कि गोआ से एक साहब आया है और शराब पीने में सारे एशिया को चुनौती देता है, कहता है कि तमाम एशिया में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो शराब पीने में उससे प्रतियोगिता चला सके। शरत्चन्द्र ने इस बात से अपने को 'अपमानित' अनुभव किया। उनके रहते कोई ऐसी बात कहने का साहस करे !

"कही जनक जस अनुचित बानी।
विद्यमान रघुकुलमणि जानी !"

यह उठे और उसी समय उस 'साहब' की खोज करने लगे। पता लगाकर उसके मकान में बरबस घुस पड़े और ड्राइंग रूम में जाकर बैठ गये। 'साहब' के पूछने पर बोले : "तुम्हारी चुनौती की खबर सुनकर लड़ने आया हूँ, साहब ! देखा जाय, जीत किसकी होती है, एशिया की या यूरोप की।"

साहब ठठाकर बोला : "टुम काला आडमी हमसे जीट सकटा ?"

"इसी का उत्तर देने आया हूँ, साहब, चलो जमा जाय।"

तिमंजिले पर स्थित एक बड़े कमरे में दोनों बैठे। शरत् ने कहा : "मैं देशी आदमी, देशी शराब ही पीऊंगा, तुम विलायती पीना।"

सुनकर साहब और खुश हुआ, क्योंकि देशी का नशा अधिक होता है। दोनों पीने लगे। बोतल पर बोतल खतम होते-होते रात के तीन बज गये। "और एक बोतल !" शरत् ने झूमते हुए बैरा से कहा। नशे की हालत में एक बार दोनों की बोतलें एक दूसरे से बदल गयीं। साहब पीने लगा देशी और शरत् विलायती। साहब देशी शराब का आदी नहीं था। फल यह हुआ कि दो ही-तीन घूंटों के बाद वह मृत अवस्था में फर्श पर गिर पड़ा। शरत् यह हाल देख कर खिड़की से दूसरी मंजिल की छत पर कूदकर पनाले के पाइप के सहारे नीचे उतरे और सीधे स्टेशन की ओर भागकर पेगू की गाड़ी में सवार हो गये!

यह है शरत् की 'बहादुरी' का किस्सा कि उन्होंने बोतल पर बोतल खतम करके एशिया की नाक रख ली ! 'भक्तगण' के लिये इससे अधिक पुलकित होने की बात और क्या हो सकती है ! पर जो लोग शरत् को घनिष्ठ रूप से जानते रहे हैं वे जानते हैं कि यह किस्सा एकदम असंभव और निराधार है।

अल्फलैला के किस्सों को मात देने वाली इसी प्रकार की एक दूसरी कहानी यह है कि एक बार शरत् ने रवीन्द्रनाथ को उनकी जयन्ती के अवसर पर शिवपुर में अपने यहाँ निमंत्रित किया। लखनऊ से उस अवसर के लिये विशेष रूप से एक 'बाई जी' (नर्तकी) बुलायी गई। रवीन्द्रनाथ आये और एक

मसनद पर टेक लगाकर बैठ गये। शरत् भी उनकी बगल में बैठ गये। 'बाई जी' घुंघरू बजाती हुई नाचने लगी। पर बीच-बीच में उसे ठहर जाना पड़ता था, क्योंकि तबले वाला ठीक से बजा नहीं पा रहा था, जिससे ताल भंग हो रहा था। शरत्चन्द्र से नहीं रहा गया और उन्होंने अपने एक आदमी को पुकारकर कहा: "अनुरूप, थोड़ी सी अफीम ले आओ।" अफीम आयी और वहीं रवीन्द्रनाथ के सामने ही शरत्चन्द्र ने उसे लिया। उसके बाद वह स्वयं तबला बजाने लगे। बस, फिर क्या था, लड़की छमाछम नाचने लगी। नाचते-नाचते जब सुबह हो गयी तब शरत् का तबला बंद हुआ। रवीन्द्रनाथ सुनकर मुग्ध हो गये। बोले: 'वाह, इतना अच्छा बजाना तुमने कहाँ सीखा?" उत्तर मिला: "बर्मा में लखनऊ के एक तबलची से सीखा था।"

शाम को रवीन्द्रनाथ ने इसराज बजाकर सुनाया। और फिर शरत् से कहा: "इस रस से तुम शायद वंचित हो?"

शरत्चन्द्र बोले: "यह अभागा किसी भी रस से वंचित नहीं है। मैं आपको सितार सुना सकता हूँ। अनुरूप, जरा एकशा नंबर वन (एक प्रकार की तेज शराब– ब्रांडी) लाना तो!"

ब्रांडी आयी और शरत् ने ठाट से गुरुदेव के आगे उसे पिया और तब वह जमकर सितार बजाने लगे। रवीन्द्र बोले: "मुझे पता नहीं था कि तुम इतने गुणों के अधिकारी हो!"

तनिक सोचने की बात है कि जो उदारचेता कलाकार आजीवन पतिताओं के भीतर छिपे हुए नारीत्व के उद्धार का बीड़ा उठाये रहा, जो बराबर उनके प्रति करुणा के साथ ही सम्मान और श्रद्धा प्रकट करता रहा, वह रवीन्द्रनाथ की

जयंती के अवसर पर महाकवि के सम्मान के अनुरूप कोई सुन्दर योजना न बनाकर एक वेश्या को उनके आगे नचावें और स्वयं उनके सामने ही अफीम खाये और शराब पिये बिना न रह सके, यह बात कहाँ तक विश्वसनीय हो सकती है। इसका निर्णय शरत् के प्रेमी पाठक स्वयं करें।

रवीन्द्रनाथ का 'सम्मान' इस रूप में शरत् ने क्यों किया, इसकी कैफियत देते हुए शरत् के उक्त श्रद्धालु जीवनी-लेखक ने लिखा है कि शरत्चन्द्र रवीन्द्रनाथ के प्रति स्पर्द्धा की भावना रखते थे, इसलिये उन्हें नीचा दिखाना चाहते थे! जो लोग शरत् की शालीनता और स्वभाव की गंभीरता से परिचित हैं वे जानते हैं कि न तो उनमें कवीन्द्र के प्रति स्पर्द्धा की ही भावना कभी रही और न वह इस तरह के हीन उपाय द्वारा अपनी भावना का प्रदर्शन कभी कर सकते थे।

यह ठीक है कि रवीन्द्र और शरत् के बीच साहित्यिक सिद्धांतों को लेकर वाद-विवाद चला था। कुछ विषयों को लेकर दोनों के बीच मतभेद बना रहा। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि दोनों एक दूसरे के प्रति किसी भी प्रकार की विद्वेष-भावना रखते थे। यह भी सही है कि जब कलकत्ते में रवीन्द्र जयन्ती के कुछ समय बाद शरत् के प्रेमियों ने बड़े समारोह से शरत्-जयन्ती मनायी थी तब रवीन्द्रनाथ ने लिखा था कि उनकी जयन्ती के अनुकरण में इतनी जल्दी शरत्-जयन्ती मनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि "शरत् को अभी बहुत वर्ष जीना है और बहुत काम करना है।" पर यह होते हुए भी उन्होंने उस अवसर पर एक छोटी-सी रचना लिखकर शरत् को समर्पित की थी।

रवीन्द्र के संबंध में शरत्चन्द्र से जब-जब मेरी बातें हुईं

तब-तब उन्होंने आंतरिक श्रद्धा और सम्मान से उनका स्मरण किया। रवीन्द्र के प्रति श्रद्धा और सम्मान तो साधारणतः सभी साहित्य-प्रेमियों के मन में पाया जाता है, पर शरत्चन्द्र की वह श्रद्धा-भावना असाधारण थी। बुद्धि और हृदय दोनों दृष्टियों से वह रवीन्द्र की प्रतिभा और व्यक्तित्व के आगे श्रद्धानत रहते थे। ऐसी हालत में यह कल्पना करना—और उस कल्पना को प्रत्यक्ष सत्य के रूप में प्रचारित करना—कितना बड़ा साहित्यिक अपराध है कि वही श्रद्धालु शरत् रवीन्द्र को नीचा दिखाने के लिये उन्हें बुलाकर अत्यंत गंदे रूप में उन्हें अपमानित करेंगे!

बात वही है जो मैं पहले कह चुका हूँ—संकोचशील शरत्-चन्द्र प्रारंभ ही से प्रकाश में आने से कतराते रहे और इसी कारण अपने भीतरी जीवन को उन्होंने बराबर एक रहस्यमय पर्दे से ढका रखा। आज उस रहस्यमयता का अनुचित लाभ उठाकर उनके तथाकथित जीवनी-लेखक झूठी और आधी सच्ची बातें जोड़कर, उनमें अपनी विकृत रुचि के अनुसार मिर्च-मसाला मिलाकर उन्हें 'खोजपूर्ण सत्य' के रूप में प्रचारित करके, बिना किसी दंड की आशंका के, मुक्त रूप से उस महान लेखक के चरित्र को काला करने के प्रयत्नों में जुटे हैं। बंगाल के वर्तमान श्रेष्ठ साहित्यकारों का यह सम्मिलित कर्तव्य है कि इस तरह की प्रवृत्ति को रोकें, अन्यथा उसके कारण आने वाली कई पीढ़ियों तक भारी भ्रम फैलने की संभावना है।

शरत्चन्द्र के जीवन के संबंध में मोटे तौर पर जो प्रामाणिक तथ्य पाये जाते हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—उनका जन्म १५ सितम्बर १८७६ को हुगली जिले के अन्तर्गत देवानन्दपुर में हुआ। शैशव के प्रारंभिक कुछ वर्ष उनके देवानन्दपुर में ही

बीते। उसके बाद भागलपुर में उन्हें जाना पड़ा। उनके पिता प्रारंभ से ही ससुराल ही में रहते थे, इसलिये शरत्‌चन्द्र का पालन-पोषण और शिक्षण भागलपुर में मामा के घर में ही हुआ। इन्ट्रेंस की परीक्षा पास करने के बाद वह इंटरमीडियेट में भरती हुए, पर किसी कारण परीक्षा न दे सके। उनकी शिक्षा वहीं पर समाप्त हो गयी। उसके बाद वह 'आवारा' जीवन बिताने लगे। साहित्य संबंधी विषयों में उनकी दिलचस्पी प्रारंभ ही से थी, पर कभी किसी के आगे उन्होंने यह प्रकट न होने दिया कि वह विश्व-साहित्य का अध्ययन कैसी एकांत लगन से करते चले जा रहे थे। शरत्‌चन्द्र ने एक बार मुझसे कहा था कि उन्होंने इतनी अधिक पुस्तकें पूरे अध्ययन के साथ पढ़ी हैं कि यदि उन सबका संग्रह वे कर पाते तो एक बहुत बड़ी लाइब्रेरी की स्थापना हो सकती थी। पर उनके किशोर और युवावस्था के साथी केवल उनके बाहरी 'उपद्रवों' से ही परिचित थे, भीतरी चिंतन और अध्ययन से नहीं। कहानियाँ और छोटे उपन्यास भी वह लिखते चले जाते थे, पर कभी छपाने को नहीं भेजते थे—प्रकाश में आने से वह इस कदर घबराते थे। मुझे उन्होंने बताया था कि उनके मन में कभी यह भावना नहीं जगी कि वह साहित्य-क्षेत्र में आकर अपना स्थान बनावें। लेखक बनने की थोड़ी-बहुत आकांक्षा तो निश्चय ही उनके मन में रही होगी, नहीं तो वह न छपाने पर भी लिखते ही क्यों? पर अपनी उस आकांक्षा को उन्होंने कभी गंभीर रूप से नहीं लिया। अंत में एक दिन अपनी पारिवारिक परिस्थितियों से ऊबकर वह देश त्याग करके बर्मा चले गये। वहाँ वह अज्ञातवास करना चाहते थे, और अधिकांशतः उन्होंने अज्ञातवास किया भी। फिर भी बर्मा-प्रवासी बंगालियों के संसर्ग में उन्हें आना ही

पड़ता था। वहाँ दो-तीन जगह उन्होंने नौकरी की। बर्मा-प्रवास के अन्तिम काल में वह एकाउन्टेन्ट जनरल के आफिस में नौकरी करते थे। लिखना उन्होंने नहीं छोड़ा। कई किताबें पूरी की हुई अप्रकाशित पड़ी थीं। एक दिन मकान में आग लग गयी और उनकी अधिकांश रचनायें जलकर नष्ट हो गयीं। जो शेष रह गयीं उनमें 'देवदास' भी एक था।

बर्मा प्रवास के अंतिम काल में उनका विचार अपनी रचनाओं को छपाने का हुआ। कुछ प्रारंभिक रचनायें उन्होंने वहीं से कलकत्ते भेजकर 'भारती' आदि पत्रों में छपायीं। वे चीजें लोगों को इतनी पसंद आयीं कि कला-पारखियों को संदेह होने लगा कि रवीन्द्रनाथ ने उन्हें छद्मनाम से लिखा है। जब उन्होंने देखा कि उन रचनाओं का बहुत अच्छा स्वागत हुआ है तब वह नियमित रूप से छपाने लगे। बर्मा में ही उन्होंने विवाह किया। उनके विवाह का किस्सा भी रहस्यमयता के आवरण में छिपा है। एक बंगाली लड़की, जिसे उसका बाप बेचना चाहता था या उसे पेशेवर जीवन बिताने को बाध्य करना चाहता था, उनके शरण में आयी। शरत् ने उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया और अंत में उससे शादी कर ली।

एक दिन आफिस के बड़े साहब से झगड़कर शरत् ने नौकरी छोड़ दी और कलकत्ता चले आये। वहाँ 'भारतवर्ष' के सहकारी संपादक की हैसियत से काम करके १०० रु० मासिक पाने लगे। उनकी प्रारंभिक पुस्तकों की बिक्री आशातीत रूप से अधिक हुई। यह देखकर वह स्वयं अपनी पुस्तकें छापने लगे। फलस्वरूप उनकी आमदनी काफी बढ़ गयी और वह नौकरी छोड़कर हावड़ा के अन्तर्गत शिवपुर में शांतिमय जीवन बिताने लगे।

१९२१ के असहयोग आंदोलन ने जोर पकड़ा। देशबन्धु

चित्तरंजन दास शरत् की प्रतिभा पर मुग्ध हो चुके थे। वही शरत् को राजनीति में घसीट लाये। शरत्चंद्र हावड़ा कांग्रेस कमेटी के प्रेसीडेंट की हैसियत से काम करने लगे। इसी सिलसिले में सुभाषचन्द्र बोस से भी उनकी घनिष्ठता हो गयी। भीतर से अहिंसात्मक आंदोलन के प्रति उनकी आस्था कभी नहीं रही और वह हिंसक आंदोलन के सामूहिक संगठन के पक्षपाती थे। निष्क्रिय और निरीह भाव से मार खाने और मरने को वह मानवता का अपमान समझते थे। पर साथ ही देश की तत्कालीन परिस्थितियों की वास्तविकता से अच्छी तरह परिचित होने के कारण गांधी जी के अहिंसात्मक असहयोग को ही उस समय के लिये उपयुक्त उपाय मानते थे।

उन्हीं दिनों उन्होंने 'पथेर-दावी' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें क्रांतिकारियों के प्रति उनकी सहानुभूति सुस्पष्ट शब्दों में व्यक्त हो उठी। इस रचना को छपने में कुछ समय लग गया। बाद में सरकार ने उसे जब्त कर लिया, जिसके फलस्वरूप उनके प्रति जनता का ध्यान और अधिक आकर्षित हुआ। देशबन्धु चित्तरंजन दास के 'नारायण' नामक मासिक-पत्र में वह राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विषयों पर नियमित रूप से लिखते रहते थे।

उसके बाद वर्ष-प्रति-वर्ष उनकी लोकप्रियता बढ़ती चली गयी और साथ ही साहित्यिक और सार्वजनिक कार्य का भार भी बढ़ता चला गया। दुःख-दैन्य और पराधीनता के सहस्र पाशों से ग्रस्त और पीड़ित जनता (विशेषकर युवक समाज) उनसे पथ-निर्देशन चाहती थी। शरत्चन्द्र बराबर अंतरीण साधना रत रहने पर भी अपने को बाहर से मुक्त और बंधनहीन जीवन बिताने के आदि रह चुके थे। अब जब जीवन के

विविध क्षेत्रों में उनके ऊपर गँभीर उत्तरदायित्व का भार आ पड़ा तब साध्यातीत श्रम के कारण उनके शरीर और मन पर बहुत अधिक दबाव पड़ने लगा। उनका स्वास्थ्य गिरता चला जा रहा था, यद्यपि बाहर से उसका कोई विशेष चिन्ह नहीं दिखाई पड़ता था। प्रति वर्ष उनकी नयी-नयी और उत्तरोत्तर प्रगतिशील सर्जनात्मक कृतियाँ निकलती जाती थीं। शिशु-साहित्य लिखना भी उन्होंने आरंभ कर दिया। ढाका विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्टरेट प्रदान किया। कलकत्ते में आडम्बर के साथ उनका जयन्ती समारोह मनाया गया।

अंतिम दिनों में वह खान-पान में भी थोड़ा अनियमित रहने लगे थे। वैसे एक प्रकार से बराबर ही उनका जीवन अव्यवस्थित रहा और शारीरिक पोषण के लिये पर्याप्त सुविधाएँ उन्हें जीवन में बहुत कम सुलभ हुई थीं। इसलिये जीवन के उत्तरार्द्ध में आर्थिक स्थिति संभलने पर भी उसका उपयोग वह अपने स्वास्थ्य के निर्माण में ठीक से नहीं कर पाये थे। इन्हीं सब सम्मिलित कारणों से उनका शरीर भीतर ही भीतर गलता चला गया, और अंत में एक दिन उन्होंने जो खाट पकड़ी तो फिर संभालना कठिन हो गया। यकृत एकदम नष्ट अवस्था को प्राप्त हो गया था। आपरेशन भी किया गया, पर कोई लाभ नहीं हुआ। १८ जनवरी १९३८ को वह चल बसे। अंतिम दिनों में उनकी आर्थिक स्थिति भी संकटपूर्ण हो उठी थी। जितना रुपया उन्होंने कमाया था उससे थोड़ी-सी जमीन खरीदी थी और दो-एक मकान बनाये थे। पर नकदी वह विशेष कुछ भी जमा नहीं कर पाये। जितना पाते थे उससे किसी प्रकार अपने अव्यवस्थित जीवन का क्रम निभाते तथा दीन-दरिद्रों की सहायता में खर्च कर डालते थे। फल यह हुआ कि रुपये के अभाव से

वह समय पर अस्पताल तक में भरती नहीं हो पाये। बहुत चेष्टा के बाद एक प्रकाशक से दो हजार रुपया प्राप्त किया जा सका था।

शरत्चन्द्र एक धूमकेतु की तरह साहित्य-क्षेत्र में आये थे—जैसे किसी दूसरे सौरमंडल का धूम-केतु अपने अरबों-खरबों मील व्यापी चक्र परिधि में भटक कर, इस सौरमंडल की परिधि के भीतर, कुछ तो प्रबल आकर्षण-शक्ति द्वारा और कुछ स्वेच्छा से पकड़ में आ गया हो। वह आजीवन एक मुक्त, स्वछंद प्राणी की तरह बंधनहीन जीवन बिताना चाहते थे, और साहित्य के बंधन में भी बंधना नहीं चाहते थे। इसलिये बहुत-कुछ लिख चुकने पर भी प्रकाशन से बराबर मुँह मोड़ते रहे। यदि उनके कलकत्ता-स्थित कुछ मित्र उन पर निरंतर तकाजे पर तकाजा न करते चले जाते और कलकत्ते चले आने का आग्रह बराबर जारी न रखते तो, बहुत संभव है, रचना-शक्ति में एकदम जीर्णता आ जाने और प्रतिभा में मोर्चा लग जाने तक वह साहित्य-क्षेत्र से अलग ही रहते। और उस हालत में साहित्यसंसार कितनी बड़ी देन से वंचित रह जाता, इसकी कल्पना भी आतंक उत्पन्न करती है!

शरत्चन्द्र और उनका युग

शरत्चन्द्र यद्यपि बीसवीं शती के लेखक थे, तथापि उनका आधा से अधिक जीवन मध्ययुग के कवियों और संतों की तरह ही अंधकार के रहस्यमय गर्भ में छिपा रह गया। उनके जीवन-काल में उनके कई भक्तों ने उनसे प्रार्थना की कि वह अपने पिछले जीवन से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डालें, पर वह बराबर उन लोगों की बात टालते रहे। फल यह हुआ कि आज उनकी जीवनी के नाम पर जो (बंगला) पुस्तकें बाजार में चल रही हैं उनमें उनके सम्बन्ध में ऐसे असत्य, भ्रामक और विकृत तथ्यों का प्रचार किया गया है जो उनकी गौरव-गरिमा में अयाचित कलंक-का लसा पोतने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं।

मुझे शरत्चन्द्र के निकट सम्पर्क में काफी घनिष्ठ रूप से आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। फलस्वरूप बातचीत के सिलसिले में अपने जीवन के सम्बन्ध में जिन छुटपुट तथ्यों पर वह बीच-बीच में प्रकाश डालते जाते थे---बिना इस बात की कल्पना किए कि मैं कभी उनकी जीवनी लिखूँगा---उन्हें मैं एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निधि के तौर पर आज तक सुरक्षित रखे हुए हूँ। उनके बताए हुए उन तथ्यों के आधार पर और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आनेवाले दूसरे सज्जनों से प्राप्त हुई सूचनाओं के अनुसार तथा और भी दूसरे सूत्रों से उनके जीवन का संक्षिप्त परिचय मैं नीचे दे रहा हूँ।

शरत्चन्द्र का जन्म एक बहुत दरिद्र निम्न मध्यवर्गीय परिवार में १५ सितम्बर, १८७६ को देवानन्दपुर नामक कस्बे में हुआ। विद्रोही स्वभाव उन्होंने वंश-परम्परा से पाया था। उनके बाबा किसानों की ओर से जमींदार का विरोध करने के कारण जमींदार के क्रोध का शिकार हुए थे। एक दिन उन्हें गायब पाया गया और दूसरे दिन उनका कटा हुआ सिर घाट के ऊपर रखा हुआ मिला। उनकी पत्नी गाँववालों की सलाह से रातोंरात अपने लड़के मोतीलाल को लेकर गाँव छोड़कर चली गईं और उसे अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ रक्षा के लिए छोड़ आईं। सम्बन्धी महोदय का नाम रामधन गांगुली था। बालक मोतीलाल (शरत्चन्द्र के पिता) वहीं रहकर पढ़ने-लिखने लगे। रामधन गांगुली ने लड़के को बहुत सभ्य और शिष्ट देखकर उसका विवाह अपनी सात साल की पोती भुवन-मोहिनी से कर दिया।

मोतीलाल को छुटपन से ही कविताएँ और कहानियाँ लिखने का शौक था। साहित्य-चर्चा में ही उनका अधिक समय बीतता था। लिखकर मित्रमण्डली को सुनाकर ही उन्हें सन्तोष हो जाता था। अपनी किसी चीज को छपाने की इच्छा उनके मन में कभी नहीं जागी। शरत्चन्द्र में उनकी ये दोनों प्रवृत्तियाँ पूर्णतया वर्तमान थीं, यह हम आगे चलकर देखेंगे।

देवानन्दपुर में मोतीलाल जेल में नौकरी करके बीस-पचीस रुपया मासिक कमा लेते थे। उतने ही में किसी तरह परिवार का गुजारा होता था। वहीं एक छोटी-सी ग्रामीण पाठशाला में बालक शरत्चन्द्र की शिक्षा आरम्भ हुई। यह पढ़ते कम थे और शरारत अधिक करते थे। पंडितजी उनसे बहुत परेशान रहते थे। कुछ समय बाद मोतीलाल बाबू की नौकरी छूट गई।

सम्भवतः इसका कारण यह था कि वह काव्यचर्चा में इतने अधिक व्यस्त रहते थे कि दफ्तर के काम पर विशेष ध्यान नहीं दे पाते थे। मोतीलाल बाबू के मामा को जब यह समाचार मिला तब उन्होंने उन लोगों को भागलपुर में अपने यहाँ बुला लिया। तब शरत्चन्द्र की आयु सात वर्ष की थी।

शरत्चन्द्र वहाँ भी अपनी शरारतों से बाज न आए। उनकी माँ भुवनमोहिनी को उनके कारण बेकार मायकेवालों की खरी-खोटी बातें सुननी पड़ती थीं। शरत अपने समवयसी बालकों का एक दल संगठित करके जहाँ-तहाँ ऊधम मचाया करते थे। कभी बाग में अमरूद चुराकर खाते, कभी किसी दूसरे के तालाब से मछली पकड़ लाते, कभी साँपों को पकड़ने का खेल करते। शरत्चन्द्र के मामा ने एक कोयल पाल रखी थी। पर उसके मुँह से आवाज नहीं निकलती थी। शरत्चन्द्र ने अपने दलवालों को आज्ञा दी कि गोलमिर्चों की बुकनी आम के पत्तों के रस में मिलाकर पिलाओ, तब गला ठीक होगा। पिंजरे से कोयल को बाहर निकाला गया और उसका गला पकड़कर जबरदस्ती उसे रस पिलाया गया। उसके बाद उसे पिंजरे में बन्द कर दिया गया। दूसरे दिन तड़के ही बालक शरत् इस आशा में पिंजरे के पास गए कि कोयल कूकना आरम्भ करेगी। पर उनके निराशा की सीमा न रही जब उन्होंने देखा कि वह मृत अवस्था में पड़ी हुई है। उनकी दोनों आँखें गीली हो गईं।

हैजे की महामारी में मरे हुए लोगों को जलाने के लिए कोई तैयार नहीं होता था। शरत्चन्द्र अपने दलबल के साथ इस कार्य में जुट गए।

मछुओं के जाल में फँसी हुई मछलियों को रात में चुरा लाना शरत् की दिनचर्या (बल्कि रात्रिचर्या) में से एक काम

था। उन मछलियों को बेचकर वह दीन-दुखियों की सहायता करते थे। एक बार एक आदमी गरीबी के कारण बिना चिकित्सा के मरा जा रहा था। शरत्चन्द्र अपने साथियों को लेकर मछली पकड़ लाए और उन्हें बेच कर उन्होंने उसकी चिकित्सा का खर्च जुटाया।

पर इन सब कामों में अधिकांश समय बीतने पर भी वह पढ़ने और लिखने के लिए समय निकाल ही लेते थे। वह कब पढ़ते थे और कब लिखते थे, यह कोई नहीं जानता था। अक्सर वह अपने पिता की असमाप्त हस्तलिखित रचनाओं को चुरा कर चुपचाप गोशाला में चले जाते और एकांत में ध्यान से पढ़ते। उन दिनों बच्चों के लिए उपन्यास या कहानी पढ़ना अपराध माना जाता था।

धीरे-धीरे स्वयं भी कहानियाँ लिखने की प्रवृत्ति उनमें जगने लगी। वह बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ तथा दूसरे लेखकों की रचनाओं को सब लोगों से चुरा-छिपाकर पढ़ने लगे और साथ ही स्वयं भी लिखने लगे। स्कूल की परीक्षा से सम्बन्धित पुस्तकें पढ़ने की तनिक भी प्रवृत्ति उनमें नहीं पाई जाती थी। पर बुद्धि उनकी ऐसी तीव्र थी कि एक हफ्ते में वह साल भर की पढ़ाई पूरी समाप्त कर डालते थे। किसी तरह वह एफ० ए० क्लास तक पहुँच गए, जो आजकल के इंटरमीजियट के बराबर था। फीस का प्रबन्ध न हो सकने के कारण वह एफ० ए० की परीक्षा न दे सके। वहीं पढ़ाई समाप्त कर देनी पड़ी।

घर की हालत खराब थी। पिता बेकार थे। अतः शरत् ने बनैली स्टेट में शिवशंकर साहु के यहाँ मुंशी का काम स्वीकार कर लिया और किसी तरह घर का खर्च चलाने लगे। पर नौकरी का बन्धन कभी उनके मन के अनुकूल नहीं रहा। पर

यदि नौकरी न करते तो छोटे भाई-बहनों के भूखों मरने तक की नौबत आ सकती थी। इसलिए मन मारकर किसी तरह काम करते रहे। कुछ दिनों बाद माता भुवनमोहिनी एक लड़की को जन्म देकर चल बसीं। मोतीलाल बाबू ने एक दाई को नियुक्त कर दिया। दाई शरत् के छोटे भाइयों के साथ बहुत बुरा व्यवहार करती थी। पर मोतीलाल बाबू दाई को बहुत मानते थे और उसकी किसी भी ज्यादती के लिए उससे कुछ नहीं कहते थे। इसी बात को लेकर एक दिन पिता से शरत् की अनबन हो गई और वह घर छोड़कर नागा संन्यासियों के साथ मुजफ्फरपुर चले गए।

मुजफ्फरपुर में शरत्चन्द्र एक बहुत अच्छे गायक के रूप में प्रसिद्ध हो गए। महादेव साहू नाम के एक बहुत बड़े जमींदार भी उनकी संगीत-कला पर मुग्ध हो गए और उन्होंने शरत् को अपने पास बुला लिया। शरत्चंद्र के कुछ जीवनी-लेखकों का कहना है कि शरत्चंद्र के 'श्रीकांत' नामक उपन्यास में जिस राजकुमार की चर्चा आई है, जिसके साथ 'श्रीकांत' की घनिष्ठ मित्रता हो गई थी, वह यही महादेव साहू है। केवल इतना ही नहीं 'श्रीकांत' के प्रत्येक पात्र-पात्री और प्रत्येक घटना को वास्तविक और शरत्चंद्र के जीवन से सम्बद्ध मानते हुए उन लोगों ने यहाँ तक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राजकुमार के यहाँ जिस प्यारी (उर्फ राजलक्ष्मी) नाम की गायिका से श्रीकांत की भेंट होती है और बाद में दोनों का प्रेम हो जाता है वह भी शरत्चंद्र के जीवन की सच्ची घटनाओं से सम्बन्ध रखती है। ये जीवनियाँ शरत्चंद्र की मृत्यु के बाद लिखी गई हैं और उनमें भ्रमपूर्ण तथ्य भरे पड़े हैं। शरत्चन्द्र का व्यक्तिगत सम्बन्ध इस तरह की किसी पात्री से स्थापित नहीं हुआ था।

शरत्चंद्र की बात पर अविश्वास करने का कोई कारण मैं नहीं देखता। 'श्रीकांत' में कोई भी ऐसी बात नहीं है, जो उनके जीवन से सम्बन्धित होने पर भी उन्हें कलंकित करती इसलिए यदि 'श्रीकांत' सचमुच में उनका आत्मचरित होता तो वह उसे कभी नहीं छिपाते। उन्होंने अपने जीवन की ब त-सी ऐसी बातें बताई थीं जो वास्तव में छिपाने योग्य थीं। जब उन्हें उन्होंने न छिपाया तब यह स्वीकार करने में उन्हें क्या आपत्ति होती (यदि इसमें तनिक भी सचाई होती तो) कि 'श्रीकांत' उनका आत्मचरित है?

कुछ समय तक महादेव साहू के साथ मुक्त और निर्द्वन्द्व जीवन बिताने पर एक दिन शरत्चंद्र को अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला। वह भागलपुर लौट गए और वहाँ पिता का श्राद्ध किया। घर की आर्थिक स्थति और जटिल हो उठी थी। सारा भार उन्हीं के ऊपर आ पड़ा था। एक ओर उनके मन की बंधनहीन और विमुक्त जीवन बिताने की प्रवृत्ति और दूसरी ओर स्वयं वैवाहिक बंधन में बंधे बिना ही पारिवारिक कर्त्तव्य-भार! यह द्वंद्व उनके अंतर को बुरी तरह झकझोरने लगा।

कुछ मित्रों के सुझाव से वह कलकत्ता चले गए। किसी एक दफ्तर में अंगरेजी से हिन्दी में अनुवाद करने का काम उन्हें मिल गया। उन्होंने मुझे बताया था कि भागलपुर में स्कूल में हिंदी उनकी द्वितीय भाषा थी और वह हिंदी लिखना-पढ़ना अच्छी तरह जानते थे। कुछ महीनों तक वहाँ नौकरी करने के बाद उन्होंने कर्जा-वर्जा पटा दिया और घर की भी सहायता की। पर फिर उनका स्वभाव से ही मुक्तिकामी मन छटपट करने लगा। इसी बीच उनका कुछ ऐसे व्यक्तियों से

परिचय हो गया जो बर्मा जाकर बस गए थे और वहाँ के जीवन की रहस्य-रोमांचपूर्ण कहानियाँ सुनाया करते थे। शरत्चंद्र घुमक्कड़ तो थे ही, उन्होंने निश्चय कर लिया कि वह भी बर्मा जाएंगे।

बीच-बीच में वह कहानियाँ लिखते रहते थे। पर किसी कहानी को छपाने की लालसा उनके मन में नहीं जगी। कुछ कहानियाँ उन्होंने छपाई भी तो दूसरों के नाम से। यह एक अजीब रहस्यमय मनोवृत्ति उनके भीतर वर्तमान थी, जिसका ठीक-ठीक विश्लेषण कर सकना सम्भव नहीं है। वह बाद में जो प्रकाश में आ गए और प्रकाश में आते ही अपने युग के सुप्रसिद्ध—बल्कि सर्वश्रेष्ठ—कथाकार सिद्ध हो गए, यह वास्तव में एक संयोग की ही बात थी। आधे से अधिक जीवन बीत जाने पर स्वयं उन्होंने कभी यह कल्पना नहीं की थी कि वह कभी अपनी रचनाओं को छपाएँगे और फलस्वरूप अभूतपूर्व और आश्चर्यजनक ख्याति प्राप्त करेंगे।

जो भी हो, बर्मा जाने के ठीक पूर्व जब शरत्चन्द्र को पता चला कि उनके बालबन्धु और रिश्ते के मामा सुरेन्द्रनाथ 'कुंतलीन' पुरस्कार-प्रतियोगिता के लिए एक कहानी भेजना चाहते हैं तब उन्होंने स्वयं 'मन्दिर' शीर्षक एक कहानी लिख डाली और सुरेन मामा के नाम से 'कुंतलीन' कार्यालय में भेज दी। वह स्वदेशी का जमाना था। सभी देशप्रेमी स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहित करना अपना प्रमुख कर्तव्य मानते थे। उसके पहले सम्पन्न लोग विदेशी तेलों का ही इस्तेमाल अपने बालों के लिए करते थे। इसलिए 'कुंतलीन' नाम से जब एक सुन्दर सुगंधियुक्त स्वदेशी तेल बाजार में आया तब उसका काफी प्रचार होने लगा। तेल के और अधिक प्रचार के लिए

उसके मालिकों ने अपने सूचीपत्र के साथ चुनी हुई कहानियों को भी छापना शुरू कर दिया और एक पुरस्कार-प्रतियोगिता कायम करके वे अच्छे-अच्छे लेखकों को भी आमन्त्रित करने लगे। स्वयं रवीन्द्रनाथ से एक नाटक उन्होंने अपने सूचीपत्र के लिए लिया था और उसके लिए उन्हें ३००) दिया था।

शरत्चन्द्र ने स्वयं अपने नाम से कहानी नहीं भेजी, पर प्रथम पुरस्कार उनकी कहानी को मिला। उसके बाद ही वह बर्मा चले गए।

बर्मा में कुछ दिन परिचित मित्रों के आश्रय में रहे, पर बराबर उन्हीं के यहाँ पड़े रहने में उन्हें संकोच का अनुभव होने लगा और वह नौकरी की तलाश में ठोकरें खाते हुए इधर-उधर भटकते रहे। अक्सर कुली-मजूरों के साथ उन्हें रहना पड़ता था। उनके विनम्र और प्रेमपूर्ण स्वभाव से प्रभावित होकर मजदूर लोग उन्हें बहुत मानते थे। वह उनके आपस के छोटे-मोटे झगड़ों का निबटारा करते, बीमारों को होमियोपैथिक दवाएँ बाँटते, उनकी चिट्ठीपत्रियाँ लिख देते। बाद में बहुत दौड़धूप के बाद एक्जीक्यूटिव इंजीनियर के दफ्तर में उन्हें एक साधारण क्लर्क की जगह मिल गई।

बर्मा में शरत्चन्द्र का प्रवास-काल बहुत लम्बा रहा। वहाँ घुमक्कड़ों का-सा जीवन बिताते हुए वह विभिन्न स्थानों में विविध पदों पर नौकरी करते रहे। पर क्लर्की से बड़ा पद उन्हें कहीं नहीं मिला। बर्मा में रहकर उन्हें जीवन की नाना संघर्ष-पूर्ण परिस्थितियों में होकर गुजरना पड़ा और अत्यन्त गहरे अनुभव प्राप्त हुए। विशेष करके बर्मा-प्रवासी बंगाली निम्न, मध्यवर्ग और मजदूर-वर्ग के प्रतिदिन के जीवन की छोटी-मोटी किन्तु अत्यन्त जटिल मार्मिक समस्याओं का अध्ययन

करने का लम्बा सुयोग उन्हें प्राप्त हुआ। साथ ही बर्मा की मिश्रित जनता के सम्पर्क में आकर जीवन के व्यापक पहलुओं पर भी विचार करने का मौका उन्हें मिला। वहाँ उन्होंने एक बंगाली लड़की से विवाह कर लिया, जो अत्यन्त विषम परिस्थितियों में बर्मा आई थी। लड़की के पिता ने उसे किसी गुंडे के हाथ बेच दिया था। लड़की वहाँ से भागकर रक्षा के लिए शरत्‌चन्द्र के पास आई थी। वहाँ भी उसके बाप ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। शरत्‌चन्द्र ने तथा उनके मित्रों ने उस अत्यन्त हीन प्रकृति पिता से कुछ दे-दिलाकर लड़की को उससे मुक्त किया। तब से उस लड़की ने शरत् की सेवा का व्रत ले लिया। शरत्‌चन्द्र एक कठिन रोग से आक्रांत हो गए थे। लड़की ने रात-दिन उनकी सेवा करके उन्हें मौत के मुँह से छुड़ाया। बीमारी के मुँह से छुटकारा पाते ही शरत्‌चन्द्र ने उससे विवाह कर लिया। लड़की का नाम पहले कुछ और था। शरत्‌चन्द्र ने उसका नाम रखा हिरण्मयी देवी।

बर्मा-प्रवास में अवारा लोगों का-सा घुमक्कड़ जीवन बिताते हुए भी बीच-बीच में वह अभ्यास वश कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे। कोई कहानियाँ और छोटे-मोटे उपन्यास उन्होंने लिखे। चित्रकारी का भी उन्हें शौक था। कादम्बरी की महाश्वेता के सम्बन्ध में उनके मन में जो एक अकलंक पावनता की कल्पित मूर्ति उभर आती थी उसे चित्र का रूप देकर वह बहुत दिनों तक उस चित्र को अपने सोने के कमरे में टांगे रहे।

रंगून में जिस मकान में वह रहते थे वहाँ एक दिन आग लग गई और उनकी लिखी हुई बहुत-सी मूल्यवान पांडुलिपियाँ नष्ट हो गईं। जो दो-तीन चीजें किसी प्रकार बच गईं उनमें 'देवदास' भी एक था। तब भी उनमें यह प्रवृत्ति नहीं जगी कि

उन शेष पांडुलिपियों को प्रकाशनार्थ भेज दिया जाए। प्रकाशन की कोई उपयोगिता और महत्व मानने को उनका मन जैसे तैयार ही नहीं था। उन आग में बची हुई रचनाओं के अलावा उनकी लिखी बहुत-सी रचनाओं की पांडुलिपियाँ उनके मित्रों के पास पड़ी हुई थीं। मित्रों से उनका आग्रह था कि उन्हें कहीं न छपाएँ और यदि कभी छपाएँ तो उनके नाम से नहीं। मैंने शरत्चन्द्र से कई बार तरह-तरह से घुमा-फिराकर यह प्रश्न किया था कि लिखने का शौक होने पर भी वह दीर्घकाल तक अपनी रचनाओं के प्रकाशन के सम्बन्ध में उदासीन—बल्कि विरोधी—क्यों बने रहे। पर उन्होंने कभी इसका कोई स्पष्ट उत्तर मुझे नहीं दिया। सम्भवतः असली बात को टाल जाने के उद्देश्य से वह केवल इतना कहकर रह जाते थे कि उन्हें साहित्य-समाज में अपरिचित और अज्ञात बने रहने में एक विचित्र प्रकार के सुख का अनुभव होता था, जो जितना ही रहस्यमय था उतना ही निगूढ़ भी।

उनके स्पष्ट रूप से कुछ न बताने पर भी मुझे इस सम्बन्ध में उनकी अस्पष्ट बातों से यह आभास-सा मिलता था कि कुछ रहस्यपूर्ण मनोग्रंथियों के कारण वह अपने जीवनकाल में अपनी सम्भावित ख्याति का सामना करने से कतराते थे और लिखते केवल इसलिए चले जाते थे कि उनकी मृत्यु के बाद उनका प्रकाशन हो और तब एक मृत लेखक की रचनाओं के भीतर से बोलनेवाली महान आत्मा समस्त लेखकों पर हावी हो जाए। प्रतिभाशाली पुरुषों के अवचेतनापरक मनोभाव अत्यन्त कूट और रहस्यमय होते हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह केवल मेरा अनुमान है। पर कारण चाहे जो भी हो,

इतना तो निश्चित ही है कि दीर्घकाल तक लिखते चले जाना और छपाने की ओर तनिक भी ध्यान न देना, विशेषकर उस हालत में जब अपनी प्रतिभा के प्रति मन में पूर्ण विश्वास हो (ऐसा शरत्‌चन्द्र ने स्वयं मुझे बताया था), इसका कारण उनके अन्तर्मन की कोई-न-कोई रहस्यमयी प्रवृत्ति ही थी।

पर प्रकृति के नियम भी कुछ कम रहस्यमय नहीं होते। प्रकृति शायद यह नहीं चाहती कि कोई प्रतिभाशाली शक्ति व्यक्ति के जीवनकाल में बिना तनिक भी विस्फोट के रह जाए। इसलिए शरत् के न चाहने पर भी प्रकृति की बाहरी शक्तियाँ उनकी गुप्त रचनाओं के प्रकाशन के लिए काम करती चली गईं। उनके मित्रों ने उन्हें बिना सूचित किए ही उनका 'बड़ी दीदी' (बड़ी बहन) नामक लघु उपन्यास 'भारती' नाम की मासिक पत्रिका में छपने को भेज दिया। जब उपन्यास छपा तब साहित्य-संसार में तहलका मच गया। आलोचकों के बीच आपस में कानाफूसी होने लगी कि वह छद्म नाम से छपा हुआ उपन्यास रवीन्द्रनाथ का लिखा हुआ है। एक आलोचक ने तो अपना यह मत छपा भी डाला। बाद में रवीन्द्रनाथ को पता लगने पर उन्होंने इस बात का खंडन किया।

उसके बाद शरत् के अज्ञान में ही उनके कुछ मित्रों ने 'हरिचरण', 'बाल्यस्मृति' और 'काशीनाथ' ये तीन रचनाएँ 'साहित्य' पत्रिका में स्वयं उन्हीं के नाम से छपवा दीं। जैसे बेतार के तार से, साहित्य-समाज में यह प्रचारित हो गया कि शरत्‌चन्द्र के रूप में एक नई प्रतिभा बड़ी तेजी से आ रही है। चारों ओर से आवाजें उठने लगीं कि यह शरत्‌चन्द्र कौन है, कहाँ रहता है और क्या करता है। कुछ युवकों ने मिलकर 'यमुना' नाम से एक नई साहित्यिक पत्रिका निकाली—बहुत ही

सादे ढंग से। उन्होंने शरत्चन्द्र का पता लगाकर ही छोड़ा और उनसे अपनी पत्रिका के लिए कोई एक कहानी भेजने का आग्रह करते हुए पत्र-पर-पत्र लिखकर तकाजा करना शुरू कर दिया। किसी भी प्रार्थी को अपने पास सुलभ कोई भी चीज देने से इनकार करने का स्वभाव शरत्चन्द्र का कभी नहीं रहा। साथ ही इस बीच बर्मा-जीवन के दीर्घ और घनघोर संघर्ष-विघर्षों के अनुभव और कठिन परिस्थितियों से निरन्तर जूझते रहने के कारण अपनी रचनाओं के प्रकाशन के सम्बन्ध में उनका विरोधी मनोभाव भी धीरे-धीरे हटने लगा था। उन्होंने 'रामेर सुमति' शीर्षक एक कहानी लिखकर भेज दी। उसके छपते ही 'यमुना' पत्रिका की ग्राहक-संख्या ५० से ५०० तक पहुँच गई। केवल साहित्य-समाज ही नहीं, साधारण पाठकवर्ग भी इस कहानी को पढ़कर आंदोलित हो उठा। उसके बाद उनकी 'पथ निर्देश' और 'बिंदुर छेले' शीर्षक कहानियाँ छपीं। उत्तरोत्तर उनकी ख्याति बढ़ती चली गई।

इसी बीच 'भारतवर्ष नाम की साहित्यिक पत्रिका से, जिसका उद्घाटन कुछ ही समय पूर्व बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय (डी. एल. राय) के सम्पादकत्व में हुआ था, शरत्चन्द्र के पुराने मित्र, कवि और लेखक प्रमथनाथ ने शरत्चन्द्र को अपनी रचनाएँ भेजने के लिए कई पत्र लिखे। शरत्चन्द्र ने अपने उपन्यास 'चरित्रहीन' का प्रारम्भिक अंश 'भारतवर्ष' में प्रकाशनार्थ भेज दिया। पर उस विद्रोही प्रवृत्तियों से पूर्ण क्रांतिकारी उपन्यास को छापने का साहस 'भारतवर्ष' की संपादक-मंडली का नहीं हुआ और कुछ महीनों बाद उसकी पांडुलिपि शरत्चन्द्र के पास लौट आई। शरत्चन्द्र के मन को इससे स्वभावतः क्षोभ पहुँचा। उसे

उन्होंने 'यमुना' में प्रकाशनार्थ भेज दिया। उस पत्रिका में वह धारावाहिक रूप से छपने लगा और एक नई सामाजिक चेतना की लहर उसके फलस्वरूप साहित्यिक क्षेत्र में दौड़ गई।

प्रमथ बाबू दूसरी रचनाएँ भेजने के लिए शरत्‌चन्द्र से बार-बार आग्रह करते रहे। अन्त में उन्होंने 'विराज बऊ' नामक उपन्यास 'भारतवर्ष में छपने के लिए भेज दिया। वह छपा और उसका भी अच्छा स्वागत हुआ

इसी बीच एक दिन आफिस के अंग्रेज साहब से शरत्‌चन्द्र की खटपट हो गई। साहब ने शरतचन्द्र की किसी सामान्य त्रुटि के लिए उन्हें बुरी तरह डाँटना शुरू किया। शरत्‌चंद्र सहन न कर सके और उन्होंने पलटे में उसे खरी-खोटी बातें सुनाईं। फल यह हुआ कि शरत्‌चंद्र को इस्तीफा दे देना पड़ा।

क्या करना चाहिए, कहाँ नौकरी ढूँढनी चाहिए, यह चिन्ता सिर पर सवार हुई ही थी कि कलकत्ते में प्रमथ बाबू का एक पत्र उन्हें मिला, जिसमें लिखा था—"वास्तविक अर्थ में साहित्यकार बनने के लिए तुम्हें समस्त बंधनों को छिन्न करना ही होगा मैंने इसलिए तुम्हारे सम्बन्ध में हरिदास बाबू (बंगाल के प्रमुख प्रकाशक गुरुदास चटर्जी एंड संस के तत्कालीन मालिक) से बातें की हैं वह तुम्हें प्रति-मास सौ रुपया देने के लिए तैयार हैं। यदि तुम्हें यह प्रस्ताव जंचे तो चले आओ।"

इतने दिनों के अनुभव के बाद शरत्‌चंद्र समझ चुके थे कि कलकत्ता ही उनके भावी जीवन के व्यापक विकास के लिए उपयुक्त स्थान है और फिर उस समय तो बर्मा में कोई नौकरी भी नहीं रह गई थी। वह अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राजी हो गए। मित्रों से यात्रा के खर्च का प्रबन्ध करके वह एक दिन सपत्नीक

जहाज में चढ़कर कलकत्ते के लिए रवाना हो गए। कलकत्ते में वह हावड़ा के अन्तर्गत शिवपुर में रहने लगे।

मैं पहले-पहल शिवपुर ही में उनसे मिला था। उन्होंने मुझे बताया कि अपनी तत्कालीन परिस्थिति में सौ रुपया मासिक की वह नौकरी पाकर जैसी प्रसन्नता उन्हें हुई वैसी जीवन में उसके पहले कभी नहीं हुई थी। उससे अधिक की न तो आकांक्षा ही उन्हें थी न आशा। पति-पत्नी का गुजारा अच्छी तरह हो जाता था। कलकत्ते आकर जब वह नियमित रूप से लिखते चले गए तब उनकी रचनाओं की माँग बाजार में बड़े जोरों से होने लगी। उन्होंने मुझे बताया कि पहली दो पुस्तकें—'बिंदुर छेले' और 'विराज बऊ'—उन्होंने प्रकाशक को कापी राइट बेचकर दे दी थी। पर जब उनकी बहुत अधिक बिक्री होने लगी तब मित्रों के सुझाव से उन्होंने अपनी नई पुस्तकों को स्वयं अपने खर्चे से छपाना आरम्भ किया और प्रकाशक को वह केवल कमीशन काटकर दे दिया करते थे। धीरे-धीरे यह स्थिति आई कि उन्हें प्रायः ६०००) सालाना अपनी पुस्तकों से मिलने लगा। उन्होंने मुझसे कहा—"अपनी रचनाओं से इतना पाने की कल्पना मैंने कभी नहीं की थी और मैं पूर्णतया संतुष्ट था। पर कुछ समय बाद 'वसुमती' कार्यालय के अध्यक्ष ने एक नया प्रस्ताव रखकर मुझमें असंतोष जगा दिया और कहा कि वह मेरी तब तक छपी हुई सभी पुस्तकों का सस्ता संस्करण निकालना चाहते हैं और उसके लिए वह ८०००) प्रतिवर्ष मुझे देंगे। मैंने सोचा कि सस्ता संस्करण निकल जाने से फिर अपेक्षाकृत महँगे संस्करण की पुस्तकें नहीं बिकेंगी। पर चूँकि वह ८०००) दे रहे थे, इसलिए २०००) का तत्काल लाभ देखकर मैं राजी हो गया। बाद में मुझे पता लगा

कि मेरी आशंका निर्मूल थी और सस्ते संस्करण का कोई प्रभाव अच्छे संस्करण की बिक्री पर नहीं पड़ा। इस प्रकार मुझे १४००.) वार्षिक अपनी पुस्तकों से प्राप्त होने लगा।"

यह बात १९२२-२३ की है। तब उनके तीन प्रमुख उपन्यास—'चरित्रहीन', श्रीकांत' और 'दत्ता'—निकल चुके थे। उसके बाद उनकी और भी बहुत-सी पुस्तकें—'गृहदाह', 'बामुनेर मेये', 'पथेरदावी', 'शेष प्रश्न', 'विप्रदास' आदि—निकलती चली गई और उनकी आमदनी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती गई। उनका एक-एक उपन्यास जीर्ण-जर्जर समाज की रूढ़ियों को ध्वस्त करने के लिए एक-एक अणु-बम सिद्ध हो रहा था और लोग उनकी प्रत्येक नई रचना के लिए अत्यन्त उत्सुक भाव से प्रतीक्षा करते रहते थे।

बंगाल के प्रमुख राजनीतिक नेता स्वर्गीय देशबन्धु चित्तरंजनदास शरत्‌चन्द्र की लेखन-कला के बहुत बड़े प्रशंसक थे। वह स्वयं कविता लिखते और साहित्य प्रेमी थे। जब उन्होंने 'नारायण' नाम से एक मासिक पत्रिका अपने सम्पादन में निकाली तब शरत्‌चंद्र से उन्होंने उसके लिए अपनी कोई कहानी भेजने के लिए आग्रह किया। शरत्‌चंद्र ने 'स्वामी' नामक एक बड़ी कहानी छपने के लिए भेज दी। चित्तरंजनदास उस कहानी को पढ़कर अत्यन्त प्रभावित हुए और शरत्‌चंद्र को पुरस्कार रूप में उन्होंने एक कोरा चेक भेज दिया और लिखा कि वह जो भी रकम उचित समझें उसपर इच्छानुसार लिखकर चेक भंजा लें। शरत्‌चंद्र ने केवल १००) लेना स्वीकार किया।

तबसे शरत्‌चंद्र और चित्तरंजनदास के बीच घनिष्ठता बढ़ती चली गई। फल यह हुआ कि शरत्‌चंद्र न चाहने पर भी राजनीति में घसीट लिए गए और हावड़ा कांग्रेस कमिटी के

अध्यक्ष बन गए। स्वयं अपने हाथ से नियमित रूप से चरखे में सूत कातने लगे। अपने हाथ से कते हुए सूत की एक चादर तैयार करके उन्होंने आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय को भेंट की थी। प्रफुल्लचंद्र राय साधारणतः उपन्यास-प्रेमी नहीं थे, पर शरत्‌चंद्र के उपन्यासों को वह बड़े चाव से पढ़ते थे।

धीरे-धीरे सुभाषचंद्र बोस से भी उनकी घनिष्ठता हो गई और दोनों के बीच 'दादाभाई' का अत्यंत सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया। उत्तर प्रदेश में या किसी हिंदी भाषा-भाषी प्रांत में साहित्यकार और राजनीतिज्ञों के बीच इस प्रकार की पारस्परिक घनिष्ठता और सौहार्द की कल्पना नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि यहाँ के राजनीतिक नेता साहित्य के काले अक्षर को भैंस बराबर मानते हैं और जीवन में उसकी कोई विशेष उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। पर बंगाल के अधिकांश राजनीतिज्ञ साहित्यरस में डूबे रहते और स्वयं भी साहित्यिक रचनाएँ करते हैं।

सुभाषचंद्र के साथ शरत्‌चंद्र बोस से भी उनकी घनिष्ठता का एक कारण यह भी था कि दोनों ने अहिंसात्मक असहयोग को केवल तत्कालीन परिस्थितियों के लिए उपयुक्त मानकर स्वीकार किया था, किन्तु उसे देश के उद्धार का चरम अस्त्र दोनों ने कभी स्वीकार नहीं किया। क्रांतिकारियों के साथ शरत्‌चंद्र की पूरी सहानुभूति थी और वह गोली का जवाब गोली से देने के पक्षपाती थे। क्रांतिकारियों की आर्थिक सहायता भी वह गुप्त रूप से करते रहते थे। सुभाषचंद्र इन दिनों नेशनल कालेज के प्रिंसिपल का पद ग्रहण किए हुए थे। उन्होंने शरत्‌चंद्र से अनुरोध किया कि वह भी उसी कालेज में अध्यापन का कार्य स्वीकार कर लें। शरत्‌चंद्र ने उनकी बात मान ली।

खुफिया पुलिस बराबर उनके पीछे लगी रहती थी। पर युवकों पर उनका प्रभाव देखकर उन्हें गिरफ्तार करने या परेशान करने का साहस उसे नहीं होता था। 'पथेर दावी' प्रकाशित होने पर क्रांतिकारियों के प्रति शरत्चंद्र की सहानुभूति सुस्पष्ट हो गई। सरकार ने और कोई कार्रवाई उनके खिलाफ न करके केवल पुस्तक जब्त कर ली।

आजीवन कठोर संघर्षों का सामना करते रहने के कारण शरत्चंद्र का स्वास्थ्य कभी अच्छा नहीं रहा, केवल अपनी इच्छाशक्ति की प्रबलता के कारण ही वह अंत तक कर्मठ जीवन बिताने में समर्थ हुए थे। नशापानी करने की आदत उनकी पुरानी थी। कुछ उसके कारण और कुछ कार्य-भार के कारण मृत्यु के दो-तीन वर्ष पूर्व से ही उनका स्वास्थ्य निरंतर गिरता चला जा रहा था। पर तब भी उन्होंने कभी स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं दिया और अपने नियमित कार्यक्रम में उन्होंने तब तक कोई अंतर नहीं आने दिया जब तक वह शय्यागत होने को बाध्य ही न हो गए।

देवदास की तरह ही उनके यकृत की स्थिति दिन-पर-दिन खराब होती चली जाती थी और कष्ट भी बहुत हो रहा था। अंत में यह तय हुआ कि योग्य डाक्टरों को दिखाकर जो भी चिकित्सा सम्भव हो की जाए। दुर्भाग्य का चक्र ऐसा आया कि ख्याति प्राप्त होने के बाद जिस आर्थिक अभाव से वह पूर्णतया मुक्त हो चुके थे वह फिर अपने कराल रूप में उनके सामने उपस्थित हो गया। उन्होंने रुपया काफी कमाया था, पर उसे सम्हालना और सुरक्षित रखना उनके जैसे अवढरदानी और मुक्तस्वभाव व्यक्ति के लिए असम्भव था। प्रकाशकों ने भी तब तक उस वर्ष का हिसाब नहीं चुकाया था। फलस्वरूप

अस्पताल में भरती होने में देर होने लगी। बड़ी मुश्किल से दौड़-धूप करने पर दो हज़ार रुपए का प्रबंध एक प्रकाशक के द्वारा हो सका। उन्हें पार्क नर्सिंग होम में भर्ती किया गया। डा० विधानचंद्र राय ने उनकी परीक्षा की। फिर 'एक्स-रे' परीक्षा हुई। आपरेशन आवश्यक बताया गया। आपरेशन होने पर देखा गया कि सारा यकृत सड़ गया है। डाक्टरों ने कहा कि उनके कुछ स्वस्थ हो जाने पर उन्हें स्विटजरलैण्ड जाना होगा, वहाँ एक कृत्रिम यकृत उनके शरीर के भीतर जोड़ा जा सकेगा।

शरत्चंद्र जब कुछ स्वस्थ हुए और अस्पताल से घर लौटने की तैयारी होने लगी तो उन्हें सहसा जोरों की उबकाई आनी शुरू हुई और उल्टियाँ भी हुईं। भीतर सिलाई के टांके टूट गए। फलस्वरूप १८ जनवरी, १९३८ को दस बजे दिन के समय वह सदा के लिए चल बसे। सारे साहित्यिक समाज में हाहा-कार मच गया। बड़ी शानदार अर्थी निकाली गई। उस महान् लेखक की मृत्यु से साहित्य का जो सिंहासन खाली हुआ उसकी पूर्ति आज तक भी नहीं हो सकी है।

शरत्चन्द्र का प्रेम-जीवन

शरत्चन्द्र के प्रेम-जीवन के सम्बन्ध में लोगों के मन में बड़े ही विचित्र और भ्रांत धारणाएँ बनी हुई हैं। उनकी कोई प्रामाणिक जीवनी अभी तक प्रकाशित न होने के कारण उनके प्रेमी पाठक साधारणतः उनकी रचनाएँ पढ़कर यह अनुमान लगा लेते हैं कि उनका जीवन भी उनके दुर्बल-चरित्र नायकों की ही तरह सस्ते किस्म की भावुकतापूर्ण रूमानी में बीता होगा। उनके कुछ उपन्यासों और कहानियों में अभागिनी वेश्याओं का चरित्र चित्रित हुआ देखकर बहुत से पाठक यह समझ बैठते हैं कि शरत्चंद्र पक्के वेश्यागामी रहे होंगे! पाठकों का कुछ विशेष दोष भी नहीं है, जब कि कुछ उत्तरदायित्वहीन, सनसनी-परस्त लेखकों ने शरत्चंद्र की 'प्रामाणिक जीवनी' के नाम पर विविध कल्पित नारियों के साथ उनका 'प्रेम-सम्बंध' बताकर उन मिथ्या-प्रचारित 'प्रेम-सम्बन्धों' का विस्तृत विवरण छाप डाला है। एक लेखक ने तो उनके प्रत्येक उपन्यास की प्रत्येक नायिका को उनके यथार्थ जीवन से सम्बन्धित यथार्थ और जीवित नारी प्रमाणित करने का प्रयत्न तक किया है और प्रत्येक को उनकी वास्तविक प्रेयसी ठहराया है! कहना न होगा कि ये सब निराधार अनुमान उन उत्तरदायित्व हीन लेखकों के हैं जिन्हें न तो व्यक्तिगत रूप से शरत्चंद्र के स्वभाव और चरित्र की विशेषता का यथार्थ ज्ञान रहा है न जिनमें उनके उपन्यासों में निहित गंभीर कलात्मक तत्त्वों और निगूढ़

आदर्शों को समुचित रूप से समझ सकने की योग्यता वर्तमान है।

नारी के संबंध में शरत् का दृष्टिकोण उनके उपन्यासों और कहानियों में सुस्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है। अपने वास्तविक जीवन में भी वह बराबर उसी दृष्टिकोण को सच्चे हृदय से अपनाये रहे। पतित से पतित और घृणित से घृणित नारी को भी वह बराबर करुणा और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, इसीलिये अपनी रचनाओं में भी वह उसे उसी रूप में चित्रित करना पसंद करते थे। यह ठीक है कि नारी के प्रति केवल करुणा का मनोभाव प्रगतिशील दृष्टिकोण नहीं है। सामाजिक अत्याचारों से ग्रस्त नारी के प्रति केवल करुणा बरसाने से उनकी वैयक्तिक और सामाजिक मर्यादा में कोई वृद्धि नहीं हो जाती। आवश्यकता उसमें सामाजिक अत्याचारों के प्रति विद्रोह की भावना जगाने और उसकी आत्म-मर्यादा की वृद्धि में सहायक तत्वों को उभाड़ने की। पर हमारे वर्तमान विषय से इस बात का कोई संबंध नहीं है। हम यहाँ पर केवल इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि जो लोग शरत् को एक उच्छृंखल और उत्तरदायित्वहीन व्यभिचारी और शराबी के रूप में प्रचारित करना चाहते हैं, वे वास्तविकता के प्रति एकदम आँखें मुँदे हुए हैं।

शरत् अपनी रचनाओं द्वारा हमारे सामने एक अत्यंत सहृदय, संवेदनशील और आदर्शवादी कवि के रूप में आते हैं, और जिन लोगों से उनका व्यक्तिगत परिचय रहा है वे जानते हैं कि जीवन में भी उनका वही रूप दिखायी देता था। जो साधारण से साधारण स्त्रियाँ भी उनके संपर्क में आयी हैं उनके प्रति भी शरत् के मन में करुणा, संवेदनशीलता और सहृदयता की भावनाएँ उमड़ती रही हैं। कभी किसी भी नारी की आर्थिक

या सहृदयता-जनित विवशता से अनुचित लाभ उठाने की तनिक भी प्रवृत्ति उनके मन में कभी नहीं जगी, यह बात स्वयं शरत् ने एक बार मुझसे कही थी। उनके निकट और घनिष्ठ संपर्क में आने के कारण स्वयं मुझे भी उनके स्वभाव और व्यवहार के अध्ययन से जो अनुभव हुआ उससे उनकी वह बात प्रत्यक्ष रूप से पूर्णतः प्रमाणित होती थी।

उनके जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ निश्चित रूप से आयीं जब नारी-हृदय के अक्षय और कभी न सूखने वाले उत्स से उमड़ी हुई उच्छ्वसित प्रेम-धाराओं ने उन्हें परिप्लावित कर दिया; पर अधिकतर यही देखा गया कि अपने नीति-निष्ठ और श्रद्धाशील हृदय के प्रबल प्रयत्नों से वह उस ज्वार के आवेग में बह जाने से रह गये।

नारी की दयनीयता और साथ ही अक्षय स्नेहशीलता का पहला परिचय शरत् को तब मिला जब उनकी आयु सत्रह-अठारह वर्ष की थी। किशोर और यौवनावस्था के बीच की उस अपार रहस्यमय मानसिक स्थिति में उनका परिचय एक-बार किसी एक विधवा युवती से हो गया। यह परिचय कुछ विचित्र परिस्थितियों में हुआ था। अपनी किसी खामखयाली से प्रेरित होकर उन्होंने पुरी जाने का निश्चय कर लिया था। उनके भीतर जो चिर-घुमक्कड़ वर्तमान था वह अपने निर्विचित्र जीवन की तत्कालीन परिस्थितियों से असंतुष्ट होकर-सम्बलहीन अवस्था में अज्ञात और अपरिचित स्थानों में एकाकी भ्रमण करने के लिये उतावला हो उठा था। उनके कवि-हृदय, मनमौजी पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, और प्रायः जन्म से ही जिन भागलपुर-प्रवासी मामा का अवलंब उन्हें था उनकी मृत्यु हो चुकी थी। अपने स्कूली जीवन की व्यवस्था से भी वह

संतुष्ट नहीं थे। न आर्थिक दृष्टि से वह अपने को उस जीवन में खपा पा रहे थे और न उनके चिर-चंचल और चिर-भ्रमणशील मन की प्रवृत्ति ही उस जीवन के नियम-बद्ध और सीमित वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित कर रही थी।

अतएव एक दिन अपने किसी आत्मीय को कोई सूचना दिये बिना ही वह अपने गाँव से पुरी की यात्रा के लिये निकल पड़े। पर भाग्य में कुछ दूसरा ही चक्र बँधा था। दो-एक मील पैदल चलने के बाद ही भूख और श्रम के कारण उनका शरीर और मन दोनों थक गये और वह एक पोखर के पास एक मौलसिरी के पेड़ की छाया में सुस्ताने के इरादे से बैठ गये। पर बैठने से उनकी क्लांति बढ़ी ही घटी नहीं। धीरे-धीरे उनका अलसाया हुआ शरीर शिथिल होता चला गया और वह वहीं मिट्टी पर लेटकर सो गये।

एक सुन्दरी विधवा युवती, जो पोखर से पानी लाने के लिये चली जा रही थी, एक अपरिचित और सुन्दर नवयुवक को उस असमय में पेड़ के नीचे सोते देखकर कुतूहलवश रुक गयी। कुछ क्षणों के लिये एकाग्र भाव से वह नवयुवक की ओर देखती रही। एक अजीब-सी क्लांति-भरी उदास छाया उसके मुख पर पड़ी हुई थी, जो उसे सुन्दरतर बना रही थी। उसके बाद पानी भरने के लिये चली गयी। जब पानी भर कर लौटी तब भी वह अपरिचित नवयुवक बे-खबर सोया था। आस-पास में कहीं कोई व्यक्ति नहीं था। विधवा युवती के पाँव फिर बरबस उस स्थान पर ठहर गये। नवयुवक के क्लांत-मुख की ओर फिर एक बार गौर से देखने पर उसके स्नेह-परायण नारी हृदय के भीतर यह सहज अनुभूति अंतःप्रज्ञा की बिजली के से प्रकाश में जगी कि वह तरुण किसी कारण से अपने घरवालों से

असंतुष्ट होकर भागकर चला आया है और निराश्रय और निराहार अवस्था में पड़ा है, उसके भीतर स्नेह और करुणा का स्रोत उमड़ चला। अपनी सामाजिक स्थिति का एक बार उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अपनी करुणा-जनित पीड़ा अपने अंतर्मन में ही दबाकर उस अज्ञात-कुल-शील नवयुवक को छोड़कर सीधे घर को वापस चल देना उचित है। पर फिर उसके नारी-हृदय की स्नेह-वेदना उमड़ उठी। वह रह न सकी। उसने जोर से पुकारते हुए कहा: "यहाँ रास्ते में क्यों सोते हो?"

शरत्चंद्र नींद की गोद में न जाने किन स्वप्नों में डूबे हुए थे। उनके कानों तक वह आवाज नहीं पहुँची। युवती ने अपनी आवाज को और अधिक चढ़ाते हुए कहा: "सुनते हो?" दो-तीन बार इसी तरह पुकारने के बाद शरत् की नींद टूटी। सामने एक सुंदरी तरुणी को देखकर वह घबराये हुए से उठ खड़े हुए। युवती ने सस्नेह मुस्कराते हुए पूछा: "तुम्हारा घर कहाँ है? यहाँ क्यों सोये हो?"

शरत्चंद्र बड़ी सफाई से अपने परिचय की बात टालते हुए बोले: "मैं पुरी की यात्रा के लिये निकला हूँ। जगन्नाथ के दर्शन की बड़ी इच्छा है।"

उस छोटी उम्र में जगन्नाथ के दर्शन की आकांक्षा की बात युवती की समझ में कुछ आयी नहीं। पर इस संबंध में कोई प्रश्न न करके उसने फिर वही पुराना प्रश्न दुहराया: "पर यहाँ रास्ते में सोने की आवश्यकता कैसे आ पड़ी?"

युवती के अंतर की सहृदयता झुके मुख के भाव से स्पष्ट झलक रही थी। शरत्चंद्र ने सोचा कि उसके आगे वास्तविकता को छिपाने में कोई लाभ नहीं है। बोले: "दो दिन से न मैंने

कुछ खाया है न आराम ही कर पाया हूँ। इसलिये रास्ते में चलते-चलते थककर यहाँ सो गया था।"

युवती के मुख पर स्नेह-जनित करुणा से भींगी मुस्कान छा गयी। अत्यंत कोमल स्वर में उसने कहा—"पर पेड़ के नीचे सोने से क्या तुम्हारी भूख जाती रहेगी? चलो मेरे साथ। कुछ खाकर वहीं आराम करना।"

शरत्चंद्र द्विविधा में पड़ गये। विस्मय-उत्सुक दृष्टि से युवती की ओर देखते हुए चुपचाप खड़े रहे।

"क्या सोच रहे हो?" युवती उसी सहज स्नेह-भरी मुस्कान के साथ कहा। "मेरे साथ चलने में क्यों हिचक रहे हो? मैं उम्र में तुमसे काफी बड़ी हूँ। तनिक संकोच न करके सीधे चले चलो!"

और कोई समय होता तो शरत्चंद्र रास्ते में मिली हुई किसी अपरिचित युवती के साथ उसके घर चलने को कभी राजी न होते। पर उस समय भूख से उनका बुरा हाल था। भूख-निवारण की सुविधा होने का प्रलोभन उनके लिये बहुत बड़ा था। इसलिये उनके मन का प्रतिरोध अधिक समय तक न ठहर सका। वह धीरे से उसके साथ हो लिये।

थोड़ी ही दूर पर युवती का घर था। उसका वास्तविक नाम न देकर हम यहाँ पर उसे केवल अभागिनी कहेंगे। संसार में वह अकेली थी। पति की मृत्यु हो चुकी थी। न मायके में उसका अपना कहने को कोई शेष रह गया था, न ससुराल में। दूर के रिश्ते का एक देवर और एक बहनोई, केवल ये दो व्यक्ति ऐसे थे जो उस पर अपनी 'आत्मीयता' का 'अधिकार' घोषित करते रहते थे। जब शरत्चंद्र उसके यहाँ पहुँचे तब घर पर कोई नहीं था। युवती ने उनके स्नानादि का प्रबंध कर दिया और उसके

बाद घर पर जो चीजें तैयार थीं उन्हें एक थाली में सजाकर उसने शरत् के आगे रखते हुए कहा : "खाओ, अभी इन्हीं चीजों से काम चलाओ। शाम को ताजा चीजें खाने को मिलेंगी।"

शरत्चंद्र घर पर पाँव रखने के बाद से ही बड़े संकोच का अनुभव कर रहे थे। उनके प्रत्येक हाव-भाव और गति-विधि से उनका वह संकोच स्पष्ट हो रहा था। पेट में कुछ डालने की तीव्र इच्छा होने पर भी उन्हें थाली की ओर हाथ बढ़ाते हुए संकोच हो रहा था।

अभागिनी ने अपने स्वर में पहले से भी अधिक स्नेह-मधु घोलते हुए कहा : "क्यों सकुचाते हो ? मेरे हाथ का खाने से तुम्हारी बँभनई नष्ट न होगी, मेरी बात का विश्वास करो। और फिर, मैं ने तुम्हारी बड़ी बहन की तरह हूँ। मेरे आगे संकोच किस बात का ! लो, खाओ।"

इसके बाद भी रुके रहना शरत्चंद्र के लिये असंभव था। उनका सारा संकोच पल में जैसे किसी जादू के मंत्र से काफूर हो गया, थाली अपनी ओर बढ़ाकर वह एकाग्र मन से भोजन करने लगे।

जब खा-पी चुके, तब अभागिनी ने एक खटिया पर नई धुली हुई चादर बिछाकर शरत् से सो जाने के लिये कहा। बिना किसी आपत्ति के शरत्चंद्र चुपचाप लेट गये। भोजन से भी अधिक आवश्यकता उन्हें नींद की महसूस हो रही थी। लेटते ही बे-खबर सो गये। पिछले कुछ दिनों से न उनका शरीर ठीक था न मन। तिस पर अनियम और अव्यवस्था तो चल ही रही थी। बीमारी उन्हें घेर रही थी, पर अव्यवस्था और अवकाश के कारण बीमार पड़ने की फुर्सत ही उन्हें जैसे नहीं मिल रही थी, पर अब जब खाने, पीने और सोने की व्यवस्था हो गई

तब जैसे उनके अंतर्मन ने सोचा कि अब बीमार पड़ने की अच्छी सुविधा है। और वह सचमुच बीमार पड़ गये! तीसरे पहर जब उनकी आँखें खुलीं तब उन्होंने महसूस किया कि उनके सारे शरीर पर कोई अज्ञात और अदृश्य चाप पड़ा है, अंग-अंग जैसे टूटा हुआ है, जीभ में जैसे कोई मीठी चीज चिपक गयी है और सिर भारी है। युवती से उन्होंने एक गिलास पानी पीने को माँगा। पानी पीकर वह फिर करवट बदल-कर लेट गये।

"बात क्या है?" घबराकर अभागिनी ने पूछा।

"कुछ नहीं। सिर तनिक भारी है।"

"देखूँ", कहकर अभागिनी ने उनके सिर पर हाथ रखा। वह चूल्हे पर रखे हुए तवे की तरह जल रहा था। उसके बाद उसने उनकी हथेली को अपने हाथ में लिया। उसकी जलन से यह अनुमान लगाने में युवती को देर न लगी कि उसका अतिथि ज्वर से पीड़ित है।

तब से वह दिन-रात रोगी अतिथि की सेवा में व्यस्त रही। चौथे दिन शरत् ज्वर से मुक्त हुए। पर इस कदर दुर्बल हो गये थे कि मुँह से बोल नहीं निकलता था। तीन-चार दिन की और परिचर्या के बाद वह स्वस्थ हुए। इस बीच उन्हें युवती के शील, स्वभाव, गुण और सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थिति का बहुत-कुछ परिचय प्राप्त हो गया था। वह सोचने लगे कि कितने बड़े सौभाग्य से उन्हें अकस्मात्, अपूर्व प्रत्याशित रूप से एक ऐसी नारी को परिचय का सुयोग प्राप्त हुआ जो तब तक उनके अंतर्मन में केवल एक छायात्मक आदर्श के रूप में वर्तमान थी। उस अल्प वय में ही उन्हें यथार्थ जीवन के अनेक कड़वे और मीठे अनुभव हो चुके थे। नारी की महानता के संबंध में जो

जन्मजात विश्वास उनके अंतर में समाया हुआ था वह यद्यपि अभी तक डिगा नहीं था, तथापि जीवन की वास्तविकता ने उसपर धक्का पहुँचाने में अपनी ओर से कोई बात उठा नहीं रखी थी। पर इस बार जिस नारी से उनका आकस्मिक परिचय हुआ उसने नारी-हृदय की महत्ता के संबंध में उनके विश्वास की जड़ को ऐसी पक्की तरह से जमा दिया कि फिर जीवन में वह कभी टूटा ही नहीं। उन्होंने उमड़े हुए आँसुओं से मन-ही-मन उस नव-परिचिता को बार-बार श्रद्धा से प्रणाम किया। उसके मुख पर सब समय झलकते रहनेवाला स्नेह-मंडित माधुर्य शरत् के अंतर में नई-नई भाव-तरंगों को उद्वेलित करता रहता था और चिर-उपेक्षिता भारतीय नारी के स्नेह-प्रेम, त्याग, क्षमा और करुणा आदि भावों की मिश्रित महिमा का एक नया ही परिचय पाती हुई उनकी आत्मा भीतर-ही-भीतर अत्यंत पुलकित होती रहती थी। और उस युवती ने भी शरत् के भीतर निहित अबाध मानव-प्रेम और विशेष करके नारी-हृदय के करुण-कोमल, स्नेह-सजल भावनाओं के प्रति [illegible] का परिचय अपने अंतर्मन के सूक्ष्म तारों के माध्यम से प्राप्त कर लिया था। दोनों के अंतर के अदृश्य तार जैसे एक-दूसरे की आत्मा के सच्चे रूप को बिना किसी के बताये—समझ गये थे। विधवा युवती के मन में एक भावुक, सहृदय, समझदार और किसी अज्ञात दुःख से दुखी नवयुवक के प्रति युवती नारी के स्वाभाविक प्रेम, बड़ी बहन के सहज स्नेह और मातृजाति की सहजात करुणा की धाराएँ उमड़कर एक रूप में मिल गई थीं; और शरत् के मन में एक चिर-दुःखिनी भारतीय विधवा तरुणी के तप, त्याग और रोग-शोक, दुःख-दारिद्र्य से पीड़ित मानवता के प्रति निःस्वार्थ स्नेह-भावना का एक विचित्र ही

अभाव पड़ रहा था, जिसका ठीक-ठीक विश्लेषण करने में वह स्वयं अपने को असमर्थ पा रहे थे।

कुछ ही दिनों के परिचय से शरत् यह समझने लगे थे कि उन्हें उस अभागिनी विधवा युवती की परिस्थितियों के संबंध में पूरी जानकारी हो गई है, पर वास्तव में उन्हें अभी बहुत-कुछ जानना बाकी था।

उस दिन रात में अभागिनी ने शरत् को सुपच भोजन—प्रायः पथ्य खिलाया और स्वयं भी थोड़ा-बहुत खाकर, शरत् के सोने का प्रबंध करके स्वयं नित्य की तरह बगलवाले कमरे में जाकर लेट गई। कुछ दिनों से स्वयं उसका शरीर भी स्वस्थ नहीं था और मन भी खिन्न था। इधर शरत् को नींद नहीं आ रही थी। तरह-तरह के विचार उनके मन में उत्पन्न हो रहे थे। वह सोच रहे थे कि अदृष्ट भाग्य के किस चक्र से उनका जीवन एक अपूर्व-परिचित नारी के स्नेह-बंधन में बँधने जा रहा है! वह कौन होती है उनकी? और क्यों इतने दिनों तक वह उसके यहाँ इस तरह जम गये हैं कि वहाँ से जाने का कोई विचार ही उनके मन में नहीं उठता? यह ठीक है कि बीमारी उनकी उस शिथिलता का एक कारण अवश्य रही है—अभी तक उनमें शारीरिक और मानसिक बल लौट नहीं आया है—पर क्या केवल बीमारी ही उनकी उस मनःस्थिति की एकमात्र कारण है? क्या उस विधवा युवती के रहस्यमय स्नेहाकर्षण का उससे कोई संबंध नहीं है?

इसी तरह की कल्पनाओं में वह डूबे हुए थे कि सहसा बाहर दरवाजे पर किसी के दस्तक देने की आवाज सुनायी दी। शरत्चंद्र चौंक उठे। उस असमय में किसी परिचित व्यक्ति के आने की कोई संभावना नहीं थी। वह एकांत मनोयोग से

कान लगाकर सुनने लगे। बगलवाले कमरे के दरवाजे पर पहले से भी जोर के धक्के पड़ने लगे। शरत्चंद्र किसी आसन्न अनिष्ट की आशंका से घबराकर अपनी तत्कालीन आपेक्षिक अस्वस्थ अवस्था में भी उठ खड़े हुए। भीतर से युवती के रोने का-सा क्षीण स्वर सुनायी देने लगा और साथ ही दो आदमियों के आपस में झगड़ने और गाली-गलौज करने की भी आवाज साफ सुनने में आयी।

शरत् ने सुना, एक आदमी कह रहा है: "वह मेरी साली है—मैं ही उसकी परवरिश करता हूँ—वह मेरी है!"

दूसरा आदमी कह रहा था: "मैं अभी बताता हूँ, वह किसकी है! चोट्टा, जुआचोर कहीं का! वह मेरे दादा (बड़े भाई) की घरवाली है, इसलिये उस पर मेरा अधिकार है!"

दोनों के गले से फटी-फटी सी आवाज निकल रही थी, और दोनों कुछ रुक-रुककर, लटपटायी हुई सी जबान में बोल रहे थे। शरत् को यह समझने में देर न लगी कि दोनों शराब पीकर आये हैं। पल में सारी स्थिति का एक अस्पष्ट, अनुमानित आभास उनकी आँखों के आगे झलक गया और दुःखिनी विधवा के लिये चिंतित होकर—वह दरवाजा खोलने के लिये आगे बढ़े। इतने में उनके कमरे के दरवाजे पर धक्के पड़ने लगे, उन्होंने तुरंत दरवाजा खोल दिया।

दुःखिनी विधवा युवती क्षीण और दबे हुए स्वर में रोती हुई उनके पाँवों पर गिर पड़ी। अत्यंत कातर स्वर में धीरे से बोली: "भैया, मुझे बचाओ!" और उसके बाद ही वह बेहोश होकर गिर पड़ी।

उस संकटपूर्ण परिस्थिति में शरत्चंद्र का सारा संकोच जाता रहा। उन्होंने भीतर से दरवाजा बंद करके अभागिनी

को किसी तरह उठकर पलंग पर लिटा दिया और उसके मुँह पर पानी छिड़ककर पंखे से हवा करने लगे। जब युवती ने होश में आकर आँखें खोलीं तब शरत् कुछ निश्चिन्त हुए। इसके बाद इस बात का पता लगाने के लिए लालटेन हाथ में लेकर बाहर निकल पड़े कि जो दो नर-पिशाच विधवा युवती के लिये आपस में लड़ रहे थे वे कहाँ हैं और किस स्थिति में हैं। उन्होंने देखा कि दोनों दरवाजे के पास पड़े हुए हैं। एक के सिर से खून निकल रहा था और दूसरे के हाथ से। दोनों के मुँह से ताड़ी की उत्कट गंध आ रही थी। घृणा से शरत्चंद्र का सारा शरीर सिकुड़ गया, फिर भी दोनों की सेवा करने से वह नहीं चूके। दोनों का रक्त धोकर पट्टी बाँधकर फिर भीतर चले गये। रात-भर जमीन पर सोकर पलंग पर अधमरी-सी लेटी हुई अनाथा विधवा युवती की रक्षा करते रहे।

युवती ने रोते हुए शरत्चंद्र को बताया कि वे दोनों बारहों महीने इसी तरह लड़ते रहते हैं। बीच-बीच में कुछ समय के लिये शांत हो जाते हैं, और फिर एक दिन शराब पीकर आपस में इसी तरह मार-पीट करने लगते हैं। उन दोनों के कारण उसका जीवन विषमय हो गया है और अक्सर उसे गले में फाँसी लगाकर आत्महत्या करने की इच्छा होती है।

"जाने किस घोर पाप का उत्कट फल भोगने के लिये मैं अभी तक जीती हूँ, भैया!" आँखें पोंछती हुई, मर्म-विदारक स्वर में अभागिनी बोली। न इस संसार में कहीं मेरा अपना कहने को है, न कहीं तिल भर ठौर ऐसी है जहाँ मैं निश्चिन्त होकर, अपने को छिपाकर पड़ी रह सकूँ। 'वह' मुझे छोड़कर चल बसे। मेरे रहने और खाने भर का ठिकाना 'वह' अवश्य लगा गये थे, पर इन दुष्टों के मारे एक क्षण के लिये भी मैं निश्चिन्त नहीं हो

पाती हूँ। एक तुम इस अभागे जीवन में ऐसे मिले हो जिसके आगे मैं कम-से-कम जी खोलकर अपना रोना तो रो सकती हूँ! पर तुम भी कबतक जीवन में मेरा साथ दे सकोगे ...''कहती हुई वह फिर बेअख्तियार फफक-फफककर रोने लगी।

शरत् ने उसे दिलासा देते हुए सच्चे हृदय से कहा: "इस तरह हिम्मत हारने से और रोने से कोई लाभ नहीं होगा, जी-जी! तुम्हारी जैसी समझदार नारी के लिये इस तरह हताश होकर आत्महत्या की बात सोचना किसी तरह भी उचित नहीं है, मैं तुमको वचन देता हूँ कि मैं आ-जीवन तुम्हें नहीं छोड़ूँगा और इस संसार के अंतिम सिरे तक तुम्हारा साथ दूँगा। पर पहले तुम्हें स्वयं अपने भीतर से बल बटोरना होगा। तभी तुम जीवन के दुर्गम और बीहड़ पथ को पार करने में समर्थ हो सकोगी। इस तरह घबराने से कैसे काम चलेगा!"

कहा नहीं जा सकता कि शरत् की बात सुनकर अभागिनी मन-ही-मन अविश्वासपूर्वक मुस्करायी, या एक सच्चा सहारा पाने की आशा से संतोष के आँसू उसकी आँखों से निकले। जो भी हो, उस समय वह चुप हो गयी, कुछ बोली नहीं।

इस घटना के दूसरे ही दिन शरत् को फिर ज्वर आ गया। वह ज्वर के पिछले आक्रमण से अभी पूर्णतः स्वस्थ नहीं हो पाये थे कि सहसा इस तरह की आतंक जनक घटना घट गयी। केवल घटना ही नहीं घटी, बल्कि उसके फलस्वरूप अभागिनी के जीवन की भयावह स्थिति का एक दूसरा ही आतंकजनक पहलू उनके आगे उद्घटित हो गया था। वह उस नये अनुभव और नयी अनुभूति के धक्के को न संभाल सके और बुरी तरह बीमार पड़ गये।

अभागिनी घबरा उठी। कोई दूसरा चारा न देखकर अपने उसी दूर के रिश्ते के देवर को पकड़ा और उसके द्वारा अपना एक गहना गिर्वी रखवाकर थोड़े से रुपयों का प्रबंध करके एक डाक्टर को बुलाकर शरत् की चिकित्सा आरंभ कर दी। उसका वह दूर-संपर्कीय देवर उग्र स्वभाव का अवश्य था तथापि वह बहुत बुरा आदमी नहीं था। अभागिनी को वह बहुत चाहता था। पर उसका वह प्रेम दिन-पर-दिन उग्र और उत्कट रूप धारण करता जाता था। यही उसके स्वभाव की कमजोरी थी, जिससे अभागिनी के लिये खतरा बढ़ता जाता था। जो भी हो, उसको यह अभीष्ट था कि शरत् की चिकित्सा अच्छी तरह से हो, इसलिये खतरे के बावजूद उसने 'देवर' की चिरौरी की और इस संबंध में 'देवर' ने उसकी पूरी सहायता की। फल-स्वरूप शरत् शीघ्र ही रोगमुक्त हो गये। अभागिनी ने अपनी संकटपूर्ण आर्थिक और सामाजिक स्थिति में भी उनकी परिचर्या में कोई बात उठा नहीं रखी, इस बात का बहुत गहरा प्रभाव शरत् के मन पर पड़ा। भारतीय विधवा नारी को समाज के बीच में रहकर 'क्षुरस्य धारा' से भी तीक्ष्ण जिस दुर्गम पथपर चलना होता है उसका सुस्पष्ट और प्रत्यक्ष ज्ञान इसके पहले शरत् को नहीं था। इस बार जब उन्होंने अपनी आँखों से सारी स्थिति को प्रत्यक्ष देखा तब उनका हृदय अभागिनी की संकटा-वस्था का अनुभव करके आतंकित हो उठा। उनकी समझ में नहीं आता था कि समाज के गुंडों से कैसे उस असहाय नारी की रक्षा की जाय। सब से विशेष बात यह थी कि स्वयं उनका नव-मुकुलित तरुण हृदय उस दुःखिनी, त्यागमयी और स्नेह-शीला नारी के प्रति अधिकाधिक आकर्षित होता चला जाता था। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि उस स्नेहाकर्षण

को वह श्रद्धा और सम्मान की भावना में बदलकर उसे अत्यंत उन्नत और उदात्त रूप प्रदान करेंगे।

जब शरत् का स्वास्थ्य लौट आया और वह चलने-फिरने के योग्य हो गये तब उन्होंने निश्चय किया कि अभागिनी का स्नेह-बंधन तोड़कर वह फिर से घुमक्कड़ों का अनिश्चित जीवन बितायेंगे। पर रह-रहकर यह भावना उनके हृदय में तीखे काँटे की-सी चुभन पैदा करती थी कि उस अभागिनी का साथ छोड़कर वह उसे बलि-पशु का-सा जीवन बिताने के लिये हत्यारों के हाथ में सौंप जायेंगे। किन्तु उपाय क्या हो सकता है? उनकी समझ में नहीं आता था।

अंत में एक दिन उन्होंने डरते-डरते, दबी जबान से अभागिनी के आगे अपना निश्चय व्यक्त कर ही डाला। बोले: "मुझे अब जल्दी ही चले जाना होगा!"

"कहाँ?" अभागिनी ने जैसे किसी स्वप्न से जगकर, चौंकते हुए पूछा। वह जीवन में पहली बार एक सहृदय व्यक्ति के साहचर्य से अपने को जीवित संसार के बीच में मानने लगी थी, अन्यथा इतने दिनों तक वह जैसे जीवन के उस पार रहनेवाले भूतों, प्रेतों और पिशाचों के ही संपर्क में रहती आयी थी—सामाजिक और सांसारिक परिस्थितियों की विषमता के कारण। इसलिये जब शरत् ने चले जाने के विचार से उसे सूचित किया तब सहसा एक अप्रत्याशित-सा धक्का उसे लगा। वैसे उसका अंतर्मन निश्चय ही जानता रहा होगा कि वह नव-परिचित, सहृदय-स्वभाव नवयुवक आजीवन उसका साथ नहीं दे सकेगा—उसकी (अर्थात् शरत् की) सामाजिक, आर्थिक और वयगत स्थिति ही ऐसी नहीं है। फिर भी उसने अपने भीतर से बल बटोरा। पूछा: "कहाँ जाओगे?"

"पुरी की ओर जाने का विचार करके चला था, उसी को पूरा करने का इरादा है।"

अभागनी ने समस्त द्विविधा त्यागकर अपने संबंध में भी तत्काल निश्चय कर लिया। बोली; "मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी!"

शरत् के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन पर निर्भर करके वह चिर-दुःखिनी विधवा तरुणी संकीर्ण समाज के दुर्दमनीय शासन और कटूक्तियों की परवा न करके वह उनके साथ पुरी चलने को कैसे तैयार हो गयी? तब तो उस साहसी नारी के लिये भीत और चिंतित होने का कोई कारण नहीं है—उन्होंने सोचा। उसकी चारित्रिक दृढ़ता के प्रति उनके मन में श्रद्धा की भावना और अधिक बढ़ गयी।

पक्का परीक्षा लेने के इरादे से उन्होंने कहा: "क्या मेरे साथ चलना तुम व्यक्तिगत और सामाजिक सभी दृष्टियों से उचित समझती हो? क्या सचमुच तुम्हारे भीतर इतना साहस है कि मेरे साथ पुरी चलने से तुम्हारे विरुद्ध जिस झूठे कलंक का प्रचार होगा और जो सामाजिक अपमानता होगी उसे शांतभाव से सहन कर सकोगी?"

अभागिनी का मुख सहसा अत्यंत गंभीर हो आया। पर वह गंभीरता केवल क्षण-भर के लिये रही। उसके बाद ही उसके मुख का सहज स्निग्ध रूप लौट आया। स्नेहभरी मुस्कान आँखों में झलकाती हुई वह अत्यंत शांत और मधुर स्वर में बोली: "तुम्हारे समान निरीह बच्चे के साथ चलने में भी क्या समाज के भय की आशंका करनी होगी? जो समाज इस कदर नीच हो कि तुम्हारे संबंध से भी मेरे प्रति संदेह प्रकट करे, उसकी तनिक भी परवा मैं नहीं करूँगी। मैं इतनी कायर नहीं हूँ कि समाज के झूठे प्रचार के भय से अपनी अंतरात्मा

की सच्ची आवाज का भी गला घोंट दूँ। और ... मैं तुम्हें यह भी विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि मैं तुम्हारे ऊपर कोई भार नहीं बनूँगी। अपने पाँवों के बल खड़े होने की ताकत मुझ में है। मुझे केवल पथ का एक साथी चाहिये।

शरत् अकृत्रिम आश्चर्य में उस अद्भुत नारी की आँखों में चमकते हुए तेजोमय रूप को देखते रह गये। इतना वह जानते थे कि वह थोड़ी-बहुत पढ़ी-लिखी भी है और अपेक्षाकृत नये साहित्यिक और सामाजिक विचारों की जानकारी भी किसी हद तक रखती है। पर बाहर की पढ़ाई की अपेक्षा उसके अंतर की पढ़ाई किस तीव्र गति में चल रही है इसका कोई भान उन्हें नहीं था।

वास्तविकता यह थी कि वह इतनी देर तक स्वयं अपने भीतर कायरता का अनुभव कर रहे थे, पर अब उन्होंने अभागिनी का यह तेज और साहस देखा तो उनकी सारी द्विविधा जाती रही और वह उसे अपने साथ ले चलने को राजी हो गये। उनके तरुण हृदय में जीवन की एक नयी ही अनुभूति जग रही थी और एक नया ही अनुभव हो रहा था। उन्होंने यूरोप के 'नाइट' लोगों की कहानियाँ पढ़ी थीं। आज वह स्वयं अपने को भी एक 'नाइट' की स्थिति में पा रहे थे, जिसके ऊपर एक संकटग्रस्त तरुणी की रक्षा का भार आ पड़ा हो। वह अपने भीतर 'नाइट' के ही अनुरूप नैतिक और मानसिक बल जगाने के प्रयत्नों में जुट गये।

चलने का इरादा होने पर भी शरत्चंद्र शारीरिक अथवा मानसिक आलस्यवश दो दिन और पड़े रह गये। तीसरे दिन रात में फिर दरवाजे पर धक्के पड़ने लगे और उसी दिन की घटना फिर दुहरायी गई। अभागिनी के दूर-संपर्कीय देवर

और बहनोई के बीच फिर वही पुराना झगड़ा अत्यंत कुत्सित रूप में आरंभ हो गया। शरत् ने इस बात पर ध्यान दिया कि उन दोनों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण ही अभागिनी इतने दिनों तक किसी तरह अपनी लाज बचा पायी थी।

अभागिनी ने रोते हुए शरत् से कहा: "यदि तुम मुझे कल ही से यहाँ से नहीं ले चलते तो मैं आत्महत्या कर लूँगी।"

फलतः शरत् और अधिक विलंब न कर सके। दूसरे दिन तड़के ही दोनों प्रायः निःसंबल अवस्था में अनिश्चित यात्रा के लिये निकल पड़े। अभागिनी के देवर और बहनोई को जब इस बात की खबर लगी तब दोनों अपने हाथ का शिकार एक तीसरे व्यक्ति के हाथ में जाते देखकर अत्यंत चिंतित हो उठे और आपसी झगड़ा भूलकर एक हो गये। इतने दिनों तक शरत् के अस्तित्व को जो दोनों सहन किये हुए थे उसका एक कारण तो दोनों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता थी और दूसरा कारण यह था कि वे शरत् को एक नाबालिग लड़का समझते थे जिससे किसी प्रकार की हानि की कोई संभावना उन्हें दिखायी नहीं देती थी। पर जब उन्होंने देखा कि वही 'नाबालिग' लड़का उनकी प्रेम-पात्री को भगा ले गया है तब वे शरत् को 'छिपा रुस्तम' अर्थात् पक्का गुंडा जानकर, गाँव के दो-चार और आदमियों को साथ लेकर उनकी खोज में निकल पड़े।

अभागिनी और शरत् काफी दूर तक पैदल चलने के बाद जब थक गये तब एक पीपल के पेड़ के नीचे बैठकर सुस्ताने लगे। जो थोड़ा-बहुत संबल साथ में ले गये थे उसीको निकालकर अभागिनी एक बर्तन में किसी तरह चावल उबालकर दोनों पेट की पूजा का प्रबंध करने लगी।

अभागिनी खाना बना रही थी और शरत् निश्चिंत भाव से पेड़ की छाया में लेटे-लेटे आकाश-पाताल की बातें सोच रहे थे। सहसा वह बोल उठे: "हम दोनों का मिलन एक विचित्र ही संयोग है। यह सब एक अविश्वसनीय स्वप्न की तरह मुझे लग रहा है! सोचता हूँ, इसकी परिणति कहाँ होगी! मनुष्य की सबसे बड़ी हार—और साथ ही उसकी सबसे बड़ी विजय—का एक प्रधान कारण मुझे यह लगता है कि भविष्य को जानने का कोई भी उपाय, कोई भी साधन उसके पास नहीं है!"

"अभी से इस तरह की चिंता से जी खराब करने से कोई लाभ मुझे नहीं दिखायी देता।" अभागिनी चावल की हाँड़ी में लकड़ी का 'करछुल' चलाती हुई, शरत् की ओर बिना देखे ही, गंभीर भाव से बोली। "मनुष्य को सब समय हर परिस्थिति के लिये तैयार रहना चाहिये।"

दोनों इस तरह की बातें कर ही रहे थे कि दूर से कुछ लोगों को लाठी-सोंटा हाथ में लिये बड़ी तेज चाल से आते हुए दिखायी दिया। माजरा क्या है, यह सोचने के पहले ही आक्रमणकारियों के दल ने दोनों को घेर लिया। शरत्चंद्र पर खूब मार पड़ी और निष्फल प्रतिरोध से छटपटाती हुई अभागिनी का मुँह और हाथ-पाँव बाँधकर उसका 'देवर', बहनोई और गाँव के दूसरे लोग उठाकर ले गये। निरुपाय शरत्चंद्र के असंभव प्रयत्नों का कोई फल न हुआ। वह उस असहाय और अनाथ नारी को उन नरपशुओं के हाथ से छुड़ा न सके। उनके कानों में अभागिनी का हृदय-विदारक आर्तनाद मर्मांतक रूप से बजता रहा। वह केवल निश्चेष्ट रूप से, व्याकुल भाव से, विह्वल दृष्टि से उन गुंडों की ओर देखते रह गये जो अभागिनी का जीवित शव गाँव की ओर लिये चले जा रहे थे। उन्हें

धमकी दे दी गयी थी कि यदि वह एक कदम भी गाँव की ओर बढ़े नहीं कि उन्हें वहीं पर ढेर कर दिया जायगा। मृत्यु-भय से, बल्कि अपनी निरुपायावस्था पर विचार करके शरत् वहीं पड़े रह गये। थोड़ी देर बाद अँधेरा हो गया और रात हो आयी। वह कालरात्रि उन्होंने उसी पेड़ के नीचे बितायी।

अपने ऊपर पड़ी हुई मार तो वह जल्दी ही भूल गये, पर अभागिनी की मर्मभेदी गुहार वह जीवन में कभी न भूल सके। असहाय नारी की उस प्राणघाती वेदना का स्थायी प्रभाव उनके मर्म में अंकित हो गया। उनके परवर्त्ती जीवन की सारी चिंता-धारा पर इस घटना की अमिट छाया पड़ी हुई दिखायी देती है। कुसंस्कारों, अंधविश्वासों और संकीर्ण विचारों से ग्रस्त समाज के निर्मम निर्यातन से पीड़ित नारी के अंतर का जो हाहाकार-भरा मौन क्रंदन उनकी रचनाओं में जिन विभिन्न रूपों और विभिन्न परिस्थितियों में अभिव्यक्त हुआ है उसके मूल में उनके प्रारंभिक यौवन की यही दिल दहलानेवाली अभिज्ञता है। इसी आतंक-जनक प्रथम अनुभव का ही यह फल था कि वह सामाजिक परिस्थितियों की विवशता के कारण परित्यक्त, बहिष्कृत और निर्यातित नारी को कभी उपेक्षा की दृष्टि से न देख सके। उसके बाहरी रूप के भीतर मातृ-हृदय की जो उदात्त महिमा निहित है उसे अपनी सहृदयतापूर्ण अंतर्दृष्टि की 'एक्स' किरणों से देखकर उसके सच्चे स्वरूप को सर्व-साधारण के आगे रखने का आजीवन-व्रत उन्होंने ले लिया। चिर-अवमानित भारतीय नारी का गौरव-गरिमामय स्वरूप शरत्-साहित्य द्वारा पहली बार मध्यवर्गीय पाठक समाज के आगे काफी बड़े हद तक परिस्फुट हुआ, जिसकी मूल प्रेरिका थी वही अभागिनी।

इस निबंध के प्रारंभ में यह संकेत किया जा चुका है कि

शरत्चंद्र के संबंध में जो यह प्रचारित किया जाता है कि उनका सारा जीवन रोमानी रंगीनियों में बीता और वह रोमानी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर विभिन्न नारियों के साथ प्रेम-संबंध जोड़ते रहे—वह एकदम भ्रमात्मक और निराधार है। पतित से पतित नारी को भी जिस उदार सहृदयतापूर्ण दृष्टि से देखने की अपील उन्होंने अपनी रचनाओं में की है स्वयं अपने जीवन में भी वह बराबर उसी दृष्टिकोण को अपनाये रहे। जब-जब किसी नारी से उनका संबंध परिस्थितिवश जुड़ा तब-तब केवल दो ही भावनाएं उन्हें परिचालित करती रहीं—या तो आंतरिक करुणा या परिपूर्ण श्रद्धा। इन दो चरम भावों के मिश्रण से कभी-कभी एक तीसरा रंग भी स्वभावतः उत्पन्न हो जाता होगा, पर मूल भाव वही थे, इसका सब से बड़ा प्रमाण है उनके विवाह से संबंधित घटना।

तब शरत्चंद्र जब रंगून में किसी एक बंगाली होटल में रहते थे। एक दिन जब वह खाना खाकर दफ्तर की ओर जाने के लिये ज्योंही घर से बाहर निकले त्योंही अकस्मात् एक प्रायः अट्ठारह-उन्नीस वर्ष की लड़की उनके सामने आकर खड़ी हो गयी। लड़की कुछ हाँफ-सी रही थी। उसके मुख के भाव से लगता था कि वह किसी कारण से बहुत घबरायी हुई है और बड़े कष्ट में है। शरत्चंद्र को देखते ही उसने कहा: "अरे 'बामुन दा', तुम यहाँ कहाँ?" कहकर वह इस भाव से उनकी ओर देखने लगी जैसे किसी डूबते हुए को अप्रत्याशित रूप से किसी लकड़ी का सहारा मिल गया हो।

शरत्चंद्र आश्चर्य से उसकी ओर देखते रह गये। वह उसे नहीं पहचान पाये थे, हालाँकि उन्हें कुछ-कुछ लगता कि लड़की को पहले कहीं देखा है।

"भूल गये 'बामुन दा'? कलकत्ते में सौरीन्द्र ठाकुर के यहाँ..."

सहसा शरत् की स्मृति जग उठी। कलकत्ते में सौरीन्द्र नाथ ठाकुर के यहाँ संगीत की जो मजलिस अक्सर बैठा करती थी वहाँ कभी कभी उस लड़की को भी उन्होंने देखा था। तब वह छोटी थी, पर अच्छा गाना सीख गयी थी। तब उसका संगीत सुनने के अतिरिक्त और कोई जानकारी उसके संबंध में उन्हें नहीं थी।

"हाँ, हाँ, याद आ गया" शरत् ने कहा। "पर तुम यहाँ कैसे पहुँच गयी? यहाँ कब से हो और कहाँ रहती हो?"

उनके प्रश्न का कोई उत्तर देने के बजाय लड़की सहसा रो पड़ी और सिसकियाँ भरती हुई, अत्यंत व्याकुल भाव से, कातर प्रार्थना के स्वर में बोली: "मुझे बचाओ बामुन दा'!"

शरतचंद्र चकितभाव से उसकी ओर देखते रह गये। उसके बाद बोले: "पर तुम्हें हुआ क्या है? बिना किसी संकोच के साफ-साफ बताओ।"

लड़की उसी तरह फफकती हुई शंकित दृष्टि से चारों ओर देखने लगी। उसके बाद बोली: "तुम्हारा डेरा कहाँ है? मेरे ऊपर दया करो बमुन दा! पहले मुझे अपने यहाँ आश्रय दो। तब सब बातें विस्तार से तुम्हें बताऊँगी।"

लड़की को साथ लेकर शरत्चंद्र अपने डेरे को वापस चले गये। डेरे पर पहुँचकर उन्होंने लड़की से कहा: "इस समय मुझे आफिस के लिये देर हो रही है। आफिस से वापस आने पर तुमसे फिर मिलूँगा। मुझ से जितना भी हो सकेगा, तुम्हारी सहायता करूँगा। सब हाल बाद में पूछूँगा। तुमने मेरा डेरा अब देख लिया है, शाम को सुविधा से मिलना।"

पर लड़की जैसे धरना देकर बैठ गयी। बोली : "मुझे चाबी देते जाओ। मैं अब यहाँ से हटने की नहीं। यहाँ से बाहर निकलने में मेरे लिये बहुत बड़ा खतरा है। तभी तो मैंने तुमसे आश्रय देने की बात कही थी बामुन दा!"

शरतचंद्र बड़े संकट में पड़ गये। एक ओर आफिस जाने के लिये देर हो रही थी, दूसरी ओर लड़की ने उन्हें घेर लिया था। लड़की की परिस्थितियों की कोई जानकारी नहीं थी। होटल में वह अकेले रहते थे और स्वतंत्र जीवन बिताते थे। उस प्रायः अनजान लड़की को आश्रय देना दस आदमियों की कानाफूसी का पात्र बनने का खतरा मोल लेना था। पर वह लड़की वास्तव में किसी कारण से बहुत पीड़ित मालूम होती थी। मानव-चरित्र की गहराइयों से परिचित होने के कारण इतना तो एक क्षण में लड़की के रंग-ढंग देखते ही पहचान गये थे कि लड़की उनके हृदय में अपने प्रति करुणा और समवेदना जगाने के लिये कोई नाटक या स्वांग नहीं रच रही है और निश्चय ही उसे आश्रय की बहुत बड़ी आवश्यकता आ पड़ी है। पर दिन-भर सोचने का समय यदि मिल जाता तो वह शाम को उसके लिये कोई-न-कोई प्रबंध अवश्य कर देते। किंतु वह तो अभी से आश्रय चाहती है! ऐसी स्थिति में क्या करना उचित है, उनकी समझ में कुछ नहीं आता था।

"पर तुमने बताया नहीं कि बात क्या है?" उन्होंने अपने सहज-सहृदय स्वर में पूछा।

"मेरे पिता जी किसी आदमी के हाथ मुझे बेचने के फेर में हैं।" भर्रायी हुई आवाज में लड़की बोली, "इसीलिये मैं भाग कर कहीं छिपने के इरादे से इस तरफ आयी थी। अब मेरे भाग्य से अचानक तुम मिल गये हो, बामुन दा'। मुझे इस संकट

से बचाओ। मुझे अपने यहाँ शरण दो!" कहती हुई लड़की फिर रो पड़ी।

शरत् की सारी द्विविधा जाती रही। उन्होंने सब से पहला काम यह किया कि होटल से लड़की के लिये भोजन का प्रबंध किया। उसके बाद लड़की के हाथ में चाबी सौंपते हुए बोले: "तुम निश्चिंत होकर यहाँ आराम करो। मैं आफिस से लौटकर फिर तुमसे मिलूँगा और तब सारी परिस्थिति को विस्तृत रूप से जानकर तुम्हारी मुक्ति के लिये कोई बात उठा नहीं रखूँगा, विश्वास करो।"

यह कहकर वह आफिस चले गये। पर मन उनका बहुत भारी था और किसी अज्ञात आशंका से अशांत था। इसलिये अधिक देर तक आफिस में काम न कर सके, छुट्टी लेकर जल्दी ही डेरे पर वापस चले आये। डेरे पर पहुँचते ही उन्होंने देखा कि उनके कमरे के बाहर पुलिस का विस्तार संभव नहीं है, यह सोचकर शरत्चंद्र और उनके साथी ने मिलकर दो सौ रुपयों का प्रबंध करने और आने-जाने का खर्चा भी देने का वचन दिया।

जब शरत्चंद्र के कहने पर लड़की ने भीतर से दरवाजा खोला तब निबारण भी उन लोगों के पीछे-पीछे भीतर घुस गया। उसे देखते ही लड़की अत्यंत भीत हो उठी। व्याकुल भाव से रोती हुई बोली; "आप लोग मुझे उनके हाथ न सौंपें, मैं आप-लोगों के पैर छूकर प्रार्थना करती हूँ।"

शरत् ने उसे दिलासा दिया और समझाया कि चिंतित होने की कोई बात नहीं है। उसके बाद उन्होंने निबारण से कहा कि वह कल आकर रुपया ले जाये। निबारण चला गया।

लड़की की आँखों से टप-टप आँसू गिरते जा रहे थे और

उनका अक्षय भंडार समाप्त ही नहीं होता था। आँसुओं को पोंछती हुई बोली : "इस फूटे भाग्य में अभी जाने क्या-क्या बदा है। जब मैं आठ बरस की थी तभी विधवा हो गयी थी। जब कुछ बड़ी हुई, सास ने एक आदमी के हाथ मुझे बेच दिया। वह आदमी मुझे कलकत्ते ले गया। वहाँ कई अड्डों की हवा खिलाने के बाद सौरीन्द्रनाथ ठाकुर के यहाँ मुझे छोड़ आया। कुछ समय बाद वहाँ से भागकर मैं अपने इन्हीं निर्लज्ज पिता के पास चली आयी। इन्होंने बर्मा आकर अक्याब के मुसलमानों के हाथ मुझे बेच दिया। सात दिनों तक मैं उन लोगों के यहाँ बंद रही। उसके बाद एक दिन मौका मिलने पर वहाँ से भाग-कर पैदल चलकर रंगून आयी हूँ। अगर अब भी मुझे कोई अच्छा आश्रय न मिला तो मैं गले में फाँसी लगाकर मर जाऊँगी, इतना आप लोग जाने रहिये…"

शरत्‌चंद्र और उनके मित्र महोदय स्तब्ध हृदय से उस लड़की की तीखी दर्द-भरी दिल दहलानेवाली कहानी सुन रहे थे जो कुसंस्कार-ग्रस्त, संकीर्ण समाज की घोर नीचता और पतन का चित्र लोहे की जलती हुई सलाखों से उनके हृदय में अंकित कर रही थी।

बरबस निकलती हुई लंबी साँस को भीतर ही भीतर दबाने का प्रयत्न करते हुए शरत्‌चंद्र ने कहा : "अब बीती बातों को याद करने से कोई लाभ नहीं है। आगे इस प्रकार की कोई घटना नहीं घटने पायेगी, इस बात की जिम्मेवारी हम लोग अपने ऊपर लेते हैं, इसलिये तुम निश्चिंत रहो।"

शरत्‌चंद्र के मित्र ने उन्हें अलग बुलाकर धीरे से कहा : "लड़की को तुम अभी अपने ही पास रखे रहो, मैं रुपयों का प्रबंध करता हूँ। कल उसके नर-पिशाच पिता को रुपये देकर

विदा कर देना। बाद में हम दोनों मिलकर इस अनाथिनी के लिये कोई ऐसा योग्य व्यक्ति ढूँढें जिससे विवाह होकर यह सम्मानित जीवन बिता सके...'' कहकर वह चले गये।

शरत्चंद्र लौटकर लड़की के पास आये और अपने सहज सहृदय और स्नेह-सने स्वर में बोले : "यहाँ तुम अपना ही घर समझो। किसी प्रकार का संकोच न करना। तुम्हारे दोनों जून के भोजन और चाय का प्रबंध मैं होटलवाले से कहकर किये देता हूँ। मेरे साथ रहने में संकोच होता हो तो तुम अकेली इस कमरे में रह सकती हो, मैं इसी होटल में कोई दूसरा कमरा किराये पर ले लूँगा...''

"न, न, न! ऐसी बात न कहो!" लड़की ने घबराहट के स्वर में कहा। "मैं जब अपने खोटे करमों से सात दिन तक गुंडों के बीच में बंद रह सकी तब तुम्हारे साथ रहने में क्या आपत्ति मुझे हो सकती है! और फिर यहाँ अकेली रह भी कैसे सकूँगी! चारों ओर से मुझे खतरा ही खतरा नजर आता है। मारे डर के एक ही रात में मेरे प्राण निकल जायेंगे!"

शाम को शरत् के मित्र महोदय रुपयों का प्रबंध करके आये और उनके हाथ में रुपये रखकर, कुछ देर तक बातचीत करने के बाद वापस चले गये।

दूसरे दिन निवारण चक्रवर्ती यथासमय उपस्थित हुआ। शरत्चंद्र ने उसके हाथ में पूरा रुपया गिन दिया। रुपया पाने पर उसका चेहरा खिल उठा। बोला : "आप लोगों ने मुझे बड़े संकट से बचा दिया। मैं आज ही उन गुंडों का हिसाब चुकता कर आता हूँ। आप सचमुच 'भद्र लोक' हैं।" कहकर वह चला गया।

उस हीन व्यक्ति के प्रति शरत् के मन में घोर घृणा की

भावना जगने के साथ ही उस पर तरस भी आ रहा था। वह मन ही मन सोचने लगे कि जिस समाज में ऐसे भी पिता वर्तमान हो सकते हैं उसकी अधोगति किस सीमा तक पहुँच चुकी है, उसका ठीक-ठीक अनुमान लगा सकना भी कठिन है।

उस दिन आफिस में बड़ी अशांति से उन्होंने समय बिताया। जब लौटकर आये तब देखा कि निवारण दरवाजे पर खड़ा है। एक नयी आशंका से घबराकर उन्होंने पूछा : "अब आपका यहाँ क्या काम शेष रह गया है ?"

"कुछ नहीं, मैं अंतिम बार के लिये लड़की से विदा होने आया हूँ," कुछ खिसियायी हुई सी मुखमुद्रा में निवारण बोला। उसके मुँह से शराब की मंद-मंद गंध आ रही थी।

शरत् आश्वस्त हुए। उन्हें आशंका थी कि कहीं वह नराधम उन्हीं गुंडों को, जिनके यहाँ से लड़की भाग आयी थी, फिर से बुलाकर एक नया उत्पात न मचा बैठे। शरत् ने दरवाजा खट-खटाया। लड़की ने भीतर से पूछा कि कौन है। जब शरत् का उत्तर सुनकर उसे इतमीनान हो गया कि उसका पिता या और कोई गुंडा नहीं है तब उसने किवाड़ खोल दिया। खोलने पर शरत् के साथ अपने पिता को अभी तक खड़ा देखकर वह घबराकर पीछे हट गयी और व्याकुल स्वर में शरत् से बोली : "उनसे पूछिये कि वह अब क्या चाहते हैं !"

शरत् ने स्निग्ध मुस्कान के साथ कहा : "घबराओ नहीं, वह तुमसे अंतिम बार के लिये विदा होने आये हैं।"

"मुझसे कतराओ मत, माँ," ससंकोच दो कदम आगे बढ़ते हुए निवारण ने रुँधे हुए गले से अपनी लड़की को स्नेहपूर्वक संबोधित करते हुए कहा—"मैं तुमसे अंतिम बार के लिये विदा हो रहा हूँ। अब तुम्हें इस जीवन में कभी कोई कष्ट न दूँगा।

तुम्हारे साथ मैंने बहुत अन्याय किया है। अपनी हीन परि-स्थितियों से तंग आकर तुम्हें गुंडों के हाथ सौंपने में मुझे संकोच न हुआ। मैं जानता हूँ, मेरे इस अक्षम्य अपराध के लिये तुम मुझे कभी क्षमा न कर सकोगी। एक ही बात का संतोष मुझे है। अंतिम विदाई के समय तुम्हें ऐसे हाथों में सौंपे जा रहा हूँ, जहाँ तुम सुख और सम्मान से जीवन बिता सकोगी। मैं जा रहा हूँ। कहाँ जाऊँगा, स्वयं मैं नहीं जानता। केवल इतना जानता हूँ कि मैं जहाँ भी जाऊँ, मेरा अपराधी मन अब एक बहुत बड़े भार से मुक्त रहेगा···" कहते हुए उसकी आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े।

लड़की के सिर पर आशीर्वाद के रूप में हाथ रखकर और शरत् के प्रति स्नेह और श्रद्धा से हाथ जोड़कर निवारण चक्र-वर्ती चला गया। फिर उसके चले जाने पर लड़की की आँखें डबडबा आयीं, पर साथ ही एक बहुत बड़ा संकट टला जानकर उसने चैन की लंबी साँस ली। शरत् की आँखें भी एक हलके वाष्प से गीली हो आयी थीं। मानव-चरित्र की विचित्रता और आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों की दयनीयता का एक निर्मम रूप से ज्वलन्त उदाहरण उनके आगे प्रत्यक्ष हो गया। सोच-सोचकर वह व्याकुल और विभ्रांत हो उठे।

लड़की ने आँखें पोंछते हुए कहा : "एक बहुत बड़ी बला टल गयी, इसलिये मैं प्रसन्न हूँ। फिर भी सोचती हूँ कि कितने बड़े अभागे हैं यह! माँ के मरने के बाद से इनका यही हाल है। तभी से यह शराब पीने और बुरी सोहबत में रहने लगे थे। शराब पीने की लत इस सीमा तक पहुँच गयी थी कि चौबीसों घंटे नशे में चूर रहते थे। एक तो स्वभाव से ही निकम्मे तिस-पर शराबखोरी। इसलिये रोजगार का कोई ठिकाना कहीं नहीं

लगा पाते थे। मुझे बेचकर कब तक अपना गुजारा कर पाते! पता नहीं, किन शोहदों के साथ किन हीन उपायों से इतने दिनों तक किसी तरह गुजर करते रहे हैं। मैं तो जन्म की अभागिनी हूँ ही, पर यह मुझ से भी हजार गुना अभागे निकले!" कहती हुई वह फिर बरबस रो पड़ी।

शरत् ने उसे दिलासा देते हुए कहा: "अब तुम्हें उन्हें भूल जाना होगा। इस तरह सोचती रहोगी तो पागल हो जाओगी···"

दिन बीतते चले गये। लड़की अपनी नयी परिस्थिति पर गंभीर रूप से विचार करने लगी। जिस व्यक्ति के आश्रय में वह बिना पूर्व योजना के अचानक ही दैवयोग से आ पड़ी थी, उसके स्वभाव और चरित्र का अध्ययन वह बड़ी बारीकी से करने लगी। दिन पर दिन उसके मन में यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि इस बार जिस व्यक्ति के निकट संपर्क में वह आयी है वह अत्यंत सहृदय, उदार स्वभाव और साधु पुरुष है। शरतचंद्र केवल उसके खाने-पीने, पहनने और रहने की सुविधा का ही ध्यान नहीं रखते थे, बल्कि इस बात का भी पूरा खयाल रखते थे कि उनकी किसी भी बात से उसके हृदय के सैकड़ों पिछले घावों में से एक भी हरा न हो जाय। वह उसके प्रति अपने व्यवहार में केवल शालीनता और शिष्टता ही नहीं बरतते थे, बल्कि उसके प्रति आंतरिक सम्मान का भाव प्रदर्शित करते रहते थे। उस भिखारिनी और आजन्म निर्यातित नारी के लिये यह एकदम नया, अप्रत्याशित और अविश्वसनीय अनुभव था। शरत् की शिष्टता और सहृदयता उसके अंतर के भी अंतर में अज्ञात में घर करती जाती थी। फलस्वरूप उसके भाव-जगत् में एक नया ही रासायनिक तत्त्व उत्पन्न होने लगा। एक नया ही बीज नयी पौष्टिक खाद पाकर उसके अनजान में उसके भीतर

अंकुरित होने लगा। शरत् के प्रति कृतज्ञता और श्रद्धा के अतिरिक्त एक तीसरी ही भावना धीरे-धीरे उसके मन और प्राणों को छाने लगी।

उसके प्रेम-वंचित, बुभुक्षित नारी-हृदय में शरत् के प्रति एक सच्ची स्नेह-भावना जागरित होने लगी थी। उसकी माँ की मृत्यु कभी हो चुकी थी जब वह बहुत छोटी थी। आठ साल की उम्र में उसका विवाह भी हो गया और उसी वर्ष वह विधवा भी हो गयी। सास ने किसी दूसरे के हाथ बेच दिया और दूसरे ने तीसरे के हाथ। सारे चक्करों से घबराकर, भागकर जब पिता के पास आयी तो वह उन सबसे अधिक नराधम सिद्ध हुआ। इस तरह संसार में कहीं स्नेह-रस की एक बूँद भी इस चिर-तृषित चातकी को शरत् के पास आने के पूर्व तक नहीं मिली थी। शरत् के यहाँ पहला बार उसने जाना कि सच्चा स्नेह क्या होता है और उसे प्राप्त कर सकना कितने बड़े सौभाग्य की बात है।

एक दिन जब शरत् आफिस से लौटने पर उसके साथ एकांत में चाय पी रहे थे तब वह बोली: "इस तरह होटल का खाना खाकर कब तक चलेगा? अलग प्रबंध क्यों नहीं कर लेते?"

"अलग प्रबंध करने का झंझट कौन पाले! होटल में बिना किसी परिश्रम के चाय और भोजन तैयार मिलता है। इसी तरह चलने दो न!"

"झंझट के डर से होटल का सड़ा-गला, गंदा-बासी और रूखा-सूखा खाना खाते चले जाओगे तो तुम्हारे स्वास्थ्य का क्या हाल होगा! इधर कुछ दिनों से मैं देख रही हूँ, तुम्हारी तन्दुरुस्ती दिन पर दिन गिरती चली जा रही है। और फिर,

झंझट काहे का है! आखिर मैं यहाँ किस लिये हूँ? अपने हाथ से रसोई बनाकर दो जून तुम्हें खिलाने की इच्छा उसी दिन से मेरे मन में हो आयी थी जिस दिन मैंने तुम्हारे कमरे में पाँव रखा था। पर जैसा फूटा भाग लेकर मैं जनमी हूँ, उससे इस बात पर विश्वास ही नहीं होता था, तुम्हारे यहाँ दो दिन के लिये भी आश्रय पा जाऊँगी। अब जब इतने दिनों तक तुमने बिना किसी आपत्ति के मुझे अपने पास रहने दिया है, तब आज इतना साहस मुझे हो आया है कि तुमसे कहूँ। बोलो, मेरी इतनी-सी बात क्या नहीं मानोगे? मैं तुम्हारे पाँवों पड़ती हूँ, इस होटल को जल्दी छोड़ो और अलग कहीं प्रबंध करो।"

उसका आग्रह देखकर शरत् का सारा आलस्य जाता रहा। उन्होंने आवेग के साथ कहा: "तुम जब इतना चाहती हो तब मैं कल ही नये मकान की तलाश में जुट जाऊँगा।"

उस होटल से लड़की को और एक कारण से चिढ़ थी। यद्यपि वह भरसक सब समय अपने ही कमरे में बंद रहती थी, तथापि कभी-कभी अत्यंत आवश्यक कामों से बाहर निकलना ही पड़ता था। होटल में गुसलखाना तक सबके लिये एक ही था। और उन अवसरों का लाभ उठाकर कुछ शोहदे उसकी ओर बुरी तरह घूरा करते थे, जो उसे अत्यंत अप्रिय लगता था। वे लोग निश्चय ही उसके संबंध में तरह-तरह की धारणाएँ मन में बनाये हुए होंगे।

पर दूसरे दिन आफिस के घंटों के अलावा जितना समय शरत् को मिला उतने में कहीं अपने रहने के उपयुक्त किसी खाली स्थान का पता वह नहीं लगा पाये। और तीसरे दिन वह सचमुच बीमार पड़ गये। वही बात हुई जिसकी आशंका लड़की को कुछ दिनों से हो रही थी! इतने दिनों तक वह अस्वस्थ और

दायित्वहीन जीवन बिताने के आदी थे। आगे नाथ न पीछे पगहा वाली हालत थी। पर जबसे वह लड़की उनके आश्रय में आयी तबसे उनके चिर-चंचल पाँव बँध-से गये थे और वह उसके प्रति एक गंभीर उत्तरदायित्व का अनुभव करने लगे थे। एक ओर इस अनभ्यास की प्रतिक्रिया उनके भीतर चल रही थी और दूसरी ओर होटल का असंतुलित और अस्वास्थ्यकर भोजन तो था ही। बहुत दिनों से घात में बैठे हुए रंगूनी मलेरिया का जो पूरा प्रकोप उन पर हुआ तो वह थरहरा कर गिर पड़े।

लड़की ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर उनकी सेवा की और सारा संकोच त्यागकर होटल के मैनेजर तथा दूसरे भले-आदमियों की भी सहायता से उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध किया।

प्रायः एक सप्ताह बाद शरत् ज्वर से पूर्णतया मुक्त हो पाये, पर कमजोरी और एक सप्ताह तक बनी रही। शरत् का मनोवैज्ञानिक गठन ही संभवतः कुछ इस ढंग का था कि इस तरह के संकट के अवसरों पर वह जैसे ज्वर को अपने पास बुला लेते थे। और आश्चर्य यह है कि ज्वर की उस स्थिति में उनके अवचेतन मन ने उनकी तात्कालिक संकटपूर्ण समस्या का हल भी निकाल लिया। उस रुग्ण मानसिक अवस्था में उनके भीतर एक आश्चर्यजनक स्वस्थ प्रवृत्ति न जाने अंतर्मन के किन रहस्यमय नियमों के क्रम से जग उठी। फल यह देखने में आया कि उस निराश्रय लड़की के आने के बाद से जिस अशांति, असमंजस और दुविधा ने उन्हें जकड़ रखा था वह ज्वर टूटते ही काफ़ूर हो गया।

जिस दिन सुबह को पहली बार ज्वर का लेश नहीं रहा

उस दिन लड़की ने उनके सिर पर धीरे से हाथ फेरते हुए स्नेह-सने स्वर में पूछा : "सिर का दर्द कैसा है ?"

शरत् ने कृतज्ञता-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए अत्यन्त क्षीण स्वर में उत्तर दिया: "अब अच्छा है। अब मुझे कोई कष्ट नहीं है। ज्वर की हालत में भी मुझे कुछ कष्ट हुआ या नहीं, यह मुझे याद नहीं आता। लगता है कि मेरा सारा कष्ट तुमने किसी जादू के बल से अपने ऊपर ले लिया !"

लड़की सचमुच चौबीसों घंटे की परिचर्या के कारण बहुत दुर्बल हो गयी थी। उसकी आँखों के नीचे काली झाँई पड़ गयी थी। दाहिने हाथ से शरत् के कपाल पर धीरे से हाथ फेरती हुई और बाएँ हाथ से साड़ी के पल्ले से संतोष के आँसू पोंछती हुई वह धीरे से बोली : "मुझ अभागिनी का इतना बड़ा सौभाग्य कहाँ है कि मैं तुम्हारे सब कष्ट अपने ऊपर ले सकूँ !"

"तुम अभागिनी नहीं हो," शरत् ने उसी क्षीण स्वर में कहा, "तुम लक्ष्मी हो ! तुम सोना हो, खरा सोना ! इसीलिये मैं आज से तुम्हारा नया नाम रखता हूँ—हिरण्मयी। 'हिरण्य' माने सोना होता है। खरे सोने के बाहर चाहे कितना ही मैल जम जाय पर उसके भीतर मैल का एक कण भी प्रवेश नहीं पा सकता। और वह बाहरी मैल जब चाहो तब साफ हो सकता है। तुम्हारे भीतर का खरा सोना मैं देख चुका हूँ, हिरन, इसलिये तुम्हारे बाहरी जीवन में परिस्थितियों के कारण जो थोड़ी-बहुत गंदगी आ भी गयी होगी उसके कारण तुम्हारे भीतर का असली, उज्ज्वल और चमकता हुआ रूप मुझसे छपा नहीं रह सकता, इतना तुम जान लो !"

हिरण्यमयी को जीवन में पहली बार एक ऐसा पुरुष मिला जिसने उसके बाहर के सभी गंदे और विचित्र लिबासों के भीतर छिपी हुई यथार्थ नारी को अपनी पैनी अंतर्दृष्टि से देख लिया। उसकी समझ में नहीं आता था कि वह किन शब्दों में, किस सांकेतिक भाषा में अपने अन्तर की कृतज्ञता उस उदार, संवेदनशील और सहृदय पुरुष के आगे व्यक्त करे वह सहसा उठी और शरत् के दोनों पाँवों पर अपना सिर रखती हुई गीले स्वर में बोली: "ऐसा न कहो! ऐसा न कहो! मैं बहुत नीच हूँ, बहुत पतित हूँ! मेरे पापों का, दुष्कर्मों का अन्त नहीं है!"

"तुम अपनी महानता से स्वयं परिचित नहीं हो सकती हो, हिरन," बहुत ही धीरे से, अत्यन्त शान्त स्वर में शरत् ने कहा। "पर जिस व्यक्ति की आँखों के आगे उस महानता की बिजली एक बार कौंध चुकी है, उसे भ्रम नहीं हो सकता।"

हिरण्यमयी केवल नीरव भाव से शरत् के दोनों पाँवों को अपने आँसुओं से धोती रही।

चलने-फिरने योग्य बल प्राप्त करने में शरत् को प्रायः एक सप्ताह और लग गया। जिस दिन वह बीमारी के बाद पहली बार शाम को कुछ दूर टहलने के लिये गये, उसी दिन लौटकर डेरे पर पहुँचते ही उन्होंने हिरण्यमयी से कहा: "आज मैंने तुम्हारे लिये एक वर ढूँढ लिया है...।"

"चलो हटो! इस तरह की बात मुझसे कहते तुम्हें लाज नहीं आती!" कृत्रिम क्रोध से हिरन बोली।

"नहीं हिरन, यह बात नहीं है", काफी गंभीरता के साथ शरत् ने कहा। "मैं परिहास नहीं कर रहा हूँ। और इसमें बुरा मानने की क्या बात है? क्या तुम यह नहीं चाहती हो

कि तुम किसी ऐसे आदमी के साथ स्थायी सामाजिक संबंध में बँध जाओ जो तुम्हारे प्रति सहृदय हो और तुम्हारी इज्जत करता हो ?"

इस बार हिरण्यमयी विस्मय-उत्सुक भरी दृष्टि से एकटक शरत् की ओर देखती रह गयी। शरत् किस रहस्य-भरी भाषा में बात कर रहे हैं, यह उसकी समझ में ठीक से नहीं आ पाता था, फिर भी उसका अंतर्मन उसे बता रहा था कि कुछ ऐसी बात अवश्य सामने आनेवाली है जो उसकी आज तक की जीवन-धारा को एक बिलकुल ही नयी दिशा की ओर मोड़ सकती है। पर वह नयी दिशा कौन हो सकती है और उसका ठीक-ठीक स्वरूप क्या है, इसका स्पष्ट आभास उसे नहीं मिल रहा था। वह अपनी मौन दृष्टि को शरत् की ओर गड़ाये थी, जैसे शरत् के प्रश्न के उत्तर की प्रत्याशा स्वयं शरत् ही से कर रही हो।

"बोलो हिरन, मेरे प्रश्न का उत्तर दो!" शरत् ने अत्यंत आग्रह के साथ अपने सहज सहृदयतापूर्ण कोमल स्वर में कहा।

"मैं तुम्हारी बात का कुछ भी अर्थ ठीक से नहीं समझ पा रही हूँ," शरत् की ओर आधी दृष्टि से देखती हुई हिरन बोली। "जिस आदमी को मैंने न कभी देखा हो, न जिसके संबंध में कुछ सुना हो, उसके बारे में मैं क्या कह सकती हूँ!"

"और अगर ऐसे आदमी का नाम मैं लूँ, जिसे तुमने देखा है और जिसे बहुत-कुछ समझने का अवसर भी तुम्हें मिला है ?"

"जैसे ?"

"जैसे मैं ही हूँ! अगर मैं कहूँ कि मैं तुमसे विवाह करके तुम्हारे साथ स्थायी संबंध जोड़ना चाहता हूँ, तो तुम क्या उत्तर दोगी ?" कहते हुए शरत् धड़कते हुए हृदय से उसके मुख

के भाव के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन पर बड़ी बारीकी से गौर कर रहे थे।

हिरण्यमयी कुछ देर तक आँखें फाड़-फाड़कर उनकी ओर विस्मय और अविश्वास-भरी दृष्टि से देखती रही।

शरत् ने सहसा उसका दाहिना हाथ पकड़ लिया और धीरे से उसकी उँगलियों से खेलते हुए बोले : "बोलो हिरन ! मैं इस प्रश्न का उत्तर तुम्हारे मुँह से सुनने के लिये बहुत अधीर हूँ…"

हिरन के पत्थर के आँसू सहसा पानी में बदल गये। बड़ी-बड़ी बूँदें गिराती हुई, नीचे की ओर देखती हुई वह बोली : "क्या तुम सचमुच मुझे अपने इतने बड़े सौभाग्य की बात पर विश्वास करने को कहते हो ?"

शरत् का चेहरा पूरे उल्लास से चमक उठा। "तुमसे बड़े सौभाग्य की बात यह मेरे लिये होगी, हिरन, मैं सच कहता हूँ।" और उन्होंने बच्चों की सी चपलता से उसका दूसरा हाथ भी पकड़ लिया।

और इसके बाद एक दिन दोनों का विवाह शैव-विधि से हो गया।

हिरण्यमयी सचमुच शरत्चंद्र के लिये 'हिरण्य'-(स्वर्ण-) मयी साबित हुई। उनसे विवाह होने के कुछ ही समय बाद से शरत्चंद्र के साहित्यिक और आर्थिक भाग्य का सितारा चमक उठा। तब तक साहित्य-क्षेत्र में नियमित रूप से प्रवेश करने का कोई विचार नहीं था। पर इस बीच उनके कुछ कलकत्ता-निवासी बंधुओं ने उनकी कहानियों की कुछ अप्रकाशित पांडुलिपियाँ—जिन्हें शरत् ने बिना किसी शर्त के उन लोगों को प्रदान कर दिया था—विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के लिये भेज दीं, जिनमें 'बड़ो दीदी' (बड़ी बहन) नाम की बड़ी

कहानी भी थी। उन रचनाओं के छपते ही साहित्य-संसार में हलचल मच गयी। इसी बीच उनके एक मित्र ने 'यमुना' नाम की नयी पत्रिका के लिये एक कहानी लिख भेजने के लिये उन्हें बहुत विवश किया। उन्होंने 'रामेर सुमति' नाम की एक कहानी लिखकर भेजी। उस कहानी के छपते ही शरत् की साहित्यिक प्रतिभा की ख्याति बड़ी तेजी से चारों ओर फैल गयी।

और सब से बड़े संयोग की बात यह कि ठीक इसी समय किसी कारण से आफिस के साहब से शरत् की कहा-सुनी—बल्कि हाथा-पाई—हो गयी और उसके दो-ही-एक दिन बाद कलकत्ते के सबसे बड़े प्रकाशक गुरुदास चटर्जी एण्ड सन के यहाँ से उन्हें साहित्यिक क्षेत्र में काम करने के लिये एक अच्छी नौकरी का 'आफर' मिल गया। इससे अच्छा सुयोग शरत्चन्द्र को दूसरा नहीं मिल सकता था। कुछ मित्रों से रुपया उधार करके वह एक दिन हिरण्मयी के साथ जहाज में बैठकर, बर्मा को सदा के लिये प्रणाम करके कलकत्ते के लिये रवाना हो गये।

और तभी से शरत् के चिर-अव्यवस्थित और आर्थिक दृष्टि से अकिंचन जीवन का स्वर्ण-युग आरंभ हुआ।

छिटपुट स्मृतियाँ

९

व्यक्तिगत रूप से या घरेलू गोष्ठियों में बातचीत या गपशप करने में शरत्चन्द्र की जिस आश्चर्यजनक वाक्पटुता का परिचय मिलता था वह सभा-समितियों के बीच में बोलने में न जाने कहाँ लुप्त हो जाती थी। जब किसी सभा में उन्हें बोलना होता था तब वह अत्यन्त संकोच में पड़ जाते थे। बात तो वह अपने ही ढंग की और अपनी ही शैली में कहते, पर अस्फुट स्वर में, प्रायः बुदबुदाते हुए कहते, रवीन्द्रनाथ की तरह सुस्पष्ट, मधुर झंकार भरे स्वर में नहीं।

जब बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि सत्येन्द्रनाथ दत्त की मृत्यु हुई तब जगह-जगह उनकी मृत्यु पर शोक मनाने के उद्देश्य से सभाएँ होने लगीं। रवीन्द्रनाथ के बाद वही एक कवि थे जिनका नाम बंगाल के तत्कालीन कवियों में लिया जा सकता था। यह ठीक है कि रवीन्द्रनाथ की विराट् प्रतिभा से सत्येन्द्रनाथ की प्रतिभा की कोई तुलना नहीं हो सकती थी। पर भावों की सुकुमारता और प्रांजलता और भावानुसार विविध प्रकार के विचित्र छंद गढ़ने की कुशलता में वह एक ही थे। रवीन्द्रनाथ की अध्यक्षता में बंगाल के साहित्यकारों की एक काफी बड़ी सभा कवि की अकाल मृत्यु पर शोक मनाने के उद्देश्य से हो चुकी थी, जिसमें रवीन्द्रनाथ ने कहा था कि "सत्येन्द्र की कुछ विशेषताएँ ऐसी थीं जिन पर मुझे ईर्षा होती थी।" रवीन्द्रनाथ ने अंगरेजी में सत्येन्द्रनाथ की कुछ कविताओं का अनुवाद भी किया था। मैं स्वयं उस सभा में उपस्थित था। मैंने आशा की थी कि शरत्चन्द्र भी

निश्चय ही उस सभा में सम्मिलित होंगे। पर वह नहीं आये। बाद में मालूम हुआ कि उन्हें समय पर सूचना नहीं दी गई थी।

उसके बाद दूसरी सभा कालेज स्क्वायर में महाबोधि सोसाइटी के हाल में हुई। पत्रों द्वारा मुझे सूचना मिली कि शरत्चन्द्र उस सभा की अध्यक्षता करेंगे। मैंने तब तक किसी सभा में उन्हें बोलते हुए नहीं सुना था। उसके पूर्व वह शायद दो-ही-एक सभाओं में बोले होंगे। इसलिये उस अपूर्व अवसर की प्राप्ति की आशा में मैं समय से काफी पहले ही हाल में एक अच्छी जगह पर जाकर बैठ गया।

नियत समय से काफी देर हो गई, पर शरत् नहीं आये। मैं निराश होने लगा। जब और कुछ समय बीत गया और उपस्थित जनता की अधीरता बढ़ने लगी तब किसी एक वृद्ध सज्जन को सभापति के पद पर बिठा कर संयोजकों ने कार्रवाई आरंभ कर दी।

निराश होने पर भी मेरे मन से यह आशा नहीं हटी थी कि शरत् आएँगे। क्योंकि एक महत्वपूर्ण साहित्यकार के निधन पर शोक मनाने के लिये आयोजित की गई सभा की अध्यक्षता स्वीकार करने पर न आने वाले गैर-जिम्मेदार साहित्यकारों में उन्हें नहीं मानता था। उनके निकट संपर्क में रहने पर उनके स्वभाव का जो अध्ययन मैंने किया था वह गलत सिद्ध होता—यदि वह न आते तो। अन्त में मेरा विश्वास ही विजयी हुआ। कुछ देर बाद शरत् हड़बड़ाते हुए आगे दिखाई दिये। अभागी सभापति महोदय ने तत्काल कुर्सी छोड़ दी। यद्यपि शरत् उनसे बारहा अपने आसन पर जमे रहने के लिये अनुरोध करते रहे, पर वह किसी हालत में भी न माने। अगत्या शरत् को पूर्व-निर्धारित आसन ग्रहण करना ही पड़ा।

वक्ता शरत्

एक-एक करके जब तीन-चार साहित्यकार बोल चुके तब सभापति की हैसियत से शरत् बोलने के लिये उठे। मेज पर दोनों हाथ रख कर उन्होंने अपनी पीठ को नीचे की ओर झुकाया। उसके बाद बहुत ही क्षीण और अस्पष्ट स्वर में उन्होंने कुछ बुदबुदाना आरंभ किया। मैं दोनों कान खड़े करके एकांत मन से सुनने का प्रयत्न करने लगा। पर कुछ फल न हुआ। बाद में सभी श्रोताओं के सौभाग्य से उन्होंने तनिक आवाज को उठाते हुए स्पष्ट स्वर में बोलना आरंभ किया। उन्होंने कहा: "हाँ, ठीक है। सत्येन्द्रनाथ की मृत्यु से आज हमारे बंगीय-साहित्य समाज में शोक-सागर उमड़ उठा है। हमलोग कुछ समय के लिये खूब मजे में रो लें। बस! हमारा कर्त्तव्य समाप्त हुआ! चलिये अब सब लोग घर चलें!" सुनने वाले अवाक् होकर उनकी ओर देखते रह गये। उसके बाद उन्होंने फिर कहना आरंभ किया: "आज हमलोगों ने आविष्कार किया कि सत्येन्द्र कितने बड़े कवि थे! आज उनके लिये जगह-जगह साहित्य-सभाएँ हो रही हैं। पर जब वह जीवित थे तब कभी किसी सभा के संयोजक को इतना तक न सूझा कि सत्येन्द्र भी किसी साहित्य-सभा के अध्यक्ष होने की योग्यता रखते हैं। तब बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं या बड़े-बड़े सरकारी पदाधिकारियों को ही सभापति बनाया जाता था।" ऐसे अवसर पर भी शरत् अपनी स्पष्टवादिता से बाज न आये। सत्य के प्रति उनकी यही निर्भीकता उन्हें श्रेष्ठ लेखक के साथ ही श्रेष्ठ मनुष्य बनाने में समर्थ हुई थी।

× × ×

एक दिन मैं शरत् को उनके आदेश के अनुसार मनोविज्ञान संबंधी कुछ पुस्तक देने गया, जिनमें फ्रायडियन सिद्धांतों की काफी चर्चा की गई थी। उस दिन उनके यहाँ कुछ खद्दरधारी लोग आये हुए थे। शरत्चन्द्र हवड़ा जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। इसलिये हवड़ा जिला के कांग्रेसी कार्यकर्त्ता समय-समय पर उनसे परामर्श लेने आते रहते थे। मैं उन लोगों की बातों में कोई विघ्न नहीं डालना चाहता था और पुस्तकें शरत् को सौंप कर वापस जाने ही को था कि सहसा एक दिलचस्प विषय पर वार्तालाप चल पड़ा। मैं भी एक कुर्सी पकड़ कर चुपचाप एक किनारे बैठ गया।

नेता शरत

उपस्थित सज्जनों में से किसी एक ने किसी कसबे का उल्लेख करते हुए बताया कि वहाँ स्कूली बच्चों ने राष्ट्रीय झंडे के साथ एक साधारण जुलूस निकाला और उसके फलस्वरूप उन पर पुलिस की कैसी भयंकर मार पड़ी, उनके घर के लोगों को किस बुरी तरह परेशान किया गया और महिलाओं को कैसी घोर अमानुषिक बर्बरता के साथ अपमानित किया गया। जिन महोदय ने यह किस्सा सुनाया वह संभवतः उस कसबे के स्थानीय नेता थे जहाँ यह सब अत्याचार हुआ था। वह परोक्ष रूप से अपने नेतृत्व की प्रशंसा करते हुए बता रहे थे कि पुलिस की इतनी बड़ी ज्यादती के बावजूद जनता बिल्कुल शांत रही, अहिंसा और तज्जनित संयम की पूरी रक्षा हुई 'सविनय अवज्ञा' सिद्धान्तों की भारी विजय देखने में आयी।

मैं ध्यानपूर्वक शरत्चन्द्र की ओर देख रहा था। सारा किस्सा सुन कर उनका मुख भयंकर रूप से तमतमा उठा था।

जब उक्त सज्जन ने 'सविनय अवज्ञा के सिद्धांतों की विजय' पर गर्व प्रकाश किया तब शरत्चन्द्र से न रहा गया। उन्होंने प्रायः झिड़कते हुए कहा: "तुम्हें शरम नहीं मालूम होती ऐसा कहते हुए?"

सभी उपस्थित सज्जनों के आश्चर्य की सीमा नहीं थी और जिन महोदय को उन्होंने डाँटा था वह तो अवाक् थे। कुछ क्षणों बाद जब वह अपने होश में आये तब उन्होंने प्रायः हकलाते हुए पूछा: "किस बात पर शरम मालूम होने की बात आप कह रहे हैं?"

शरत्चन्द्र ने उसी तीखे स्वर में कहा: "इस बात पर कि महिलाओं के साथ घोर बर्बर और अमानुषिक अत्याचार होते देख कर भी तुम लोग नपुंसकों की तरह केवल मूक दर्शक बन कर रह गये और तिस पर तुम इस बात के लिये गर्व प्रदर्शित करते फिरते हो कि अहिंसा और संयम के सिद्धांतों की पूरी रक्षा हुई! चुल्लू भर पानी में डूब न मरे तुम लोग!"

असाधारण क्रोध से भरा हुआ उनका वह रूप देखने ही योग्य था। उसके पहले मैं उनके उस रूप की कल्पना स्वप्न में भी नहीं कर सकता था। उनके मुख की चिर-परिचित सहज-सौम्य अभिव्यक्ति सहसा ऐसे विलीन हो गई थी जैसे कभी उसका अस्तित्व न रहा हो।

पर जिन महोदय को उन्होंने तिरस्कृत किया था वह केवल भयभीत ही नहीं थे, विभ्रांत भी हो रहे थे। वह स्पष्ट ही पूरी ईमानदारी से प्रयत्न करने पर भी यह समझ ही नहीं पा रहे थे कि उनकी प्रशंसा करने के बजाय शरत्चन्द्र क्यों सहसा उन पर इस बुरी तरह बरस पड़े और कैसी उलटी बात वह कह रहे हैं। वह अत्यन्त घबराये हुए स्वर में बोले: "आप···आप···यह क्या···कैसी बात कह रहे हैं? आप···हबड़ा जिला

काँग्रेस-कमेटी के अध्यक्ष होकर क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हम लोग संगठित होकर पुलिस का सामना करते... हिंसात्मक उपायों से ?"

"हाँ, मैं यही कहना चाहता हूँ" शरत् ने उसी आवेश के साथ दृढ़ शब्दों में कहा। "मैं यदि वहाँ उपस्थित होता तो निश्चय ही ऐसा ही करता।"

"पर...पर इस उपाय से क्या कांग्रेस के अहिंसात्मक असहयोग, निष्क्रिय प्रतिरोध या सविनय अवज्ञा के सिद्धांतों की हत्या न हुई होती ?"

"अवश्य होती, पर उस हत्या को मैं महिलाओं की इज्जत-आबरू की हत्या की तुलना में नगण्य मानता हूँ।"

सब लोग स्तब्ध, विस्मित और विभ्रांत थे। मैं स्वयं भी कुछ कम विस्मित नहीं था, पर जाने क्यों, मेरा हृदय किसी अज्ञात गर्व से बल्लियों उछल रहा था। उस समय शरत् का व्यक्तित्व मुझे आसमान तक ऊँचा उठा हुआ-सा लग रहा था। सभी उपस्थित सज्जनों को और अधिक स्तब्ध तथा चकित करते हुए शरत्चन्द्र कुछ क्षणों के सन्नाटे के बाद फिर बोले:— "मैं आज तुम लोगों के आगे एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। असहयोग आन्दोलन की यह निष्क्रिय प्रतिरोध या सविनय अवज्ञा वाली नीति किसी प्रकार भी मेरी प्रकृति से मेल नहीं खाती। मैं कुछ दूसरी ही धातु का बना आदमी हूँ। कुछ विचित्र परिस्थितियों के चक्कर से, जिन पर ठीक से विचार करने का अवसर ही मुझे नहीं मिला था, मैं इस आंदोलन में शरीक हो पड़ा हूँ और हवड़ा जिला कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष हूँ। मानता हूँ कि ब्रिटिश शासन-सत्ता का संगठित विरोध करने के लिये इस समय केवल अहिंसा-मूलक आंदोलन को ही नीति के तौर पर

अपनाया जा सकता है, क्योंकि सशस्त्र क्रांति के लिये वर्तमान परिस्थितियों में हम लोग सामूहिक रूप से संगठित होकर तैयार नहीं हो सके। उसके लिये धीरे-धीरे, बड़ी ही चतुराई से, गुप्त और सूक्ष्म उपायों से निरंतर अटूट धैर्य, लगन और अध्यवसाय द्वारा जमीन तैयार हो सकेगी। जब तक वह जमीन तैयार नहीं होती और अनुकूल परि-स्थितियाँ उत्पन्न नहीं होतीं तब तक के लिये अहिंसात्मक नीति ही उपयोगी है इसमें संदेह नहीं। पर इसका अर्थ मैं यह कदापि नहीं मान सकता कि हमारी वह अहिंसा हम लोगों को इस कदर जड़ और नपुंसक बना दे कि हमलोग अपनी बहू-बेटियों की मान-प्रतिष्ठा और इज्जत-आबरू की ही रक्षा न कर सकें और उनका अपमान होते देख कर चुपचाप निरपेक्ष दर्शकों की तरह, मिट्टी के अहिंसक पुतलों के समान अचल बन कर खड़े रहें। हर नियम के अपवाद होते हैं और हमारा वर्तमान अहिंसात्मक आंदोलन भी अपवादों से रहित नहीं हो सकता। व्यक्तिगत रूप से मैं चुपचाप, निरीह व्यक्तियों की तरह बिना प्रतिरोध के मार सहन करने का आदी कभी नहीं रहा। अपने 'आवारा' जीवन में कई अंगरेजों को उनकी ज्याद-तियों के कारण पीटने का सौभाग्य या दुर्भाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। अपने इसी स्वभाव के कारण किसी भी सरकारी नौकरी पर मैं कभी अधिक समय तक टिक नहीं सका। अंतिम बार जब मैंने बरमा छोड़ा तब जिस आफिस में मैं काम करता था वहाँ के अंगरेज अफसर से मेरी बुरी तरह झड़प हो गई थी, उसने भारतीय जाति को अपमानित करते हुए गाली दी थी। इसीलिये कहता हूँ कि मेरी प्रकृति कुछ दूसरी ही तरह की रही है और अब इतने दिनों बाद क्या बदलेगी। मेरी इस बात से

तुमलोग यह न समझना कि मैं स्वभाव से ही हिंसावादी हूँ। मेरे समान निरीह और अहिंसक भी तुमलोगों को कम मिलेंगे। पर मेरे स्वभाव की वह अहिंसा कायरों की अहिंसा नहीं है।"

उनके इस भाषण के बाद कुछ देर तक किसी को मुँह खोलने का साहस नहीं हुआ। अन्त में फिर उन्हीं सज्जन ने मौन भंग किया। जिन्होंने पुलिस की ज्यादतियों का समाचार सुनाया था। उन्होंने कहा: "तब क्या आप गांधी जी की नीति को कायरों की नीति मानते हैं?" स्पष्ट ही उनके प्रश्न में व्यंग निहित था। तब तक वह पहले धक्के से संभल चुके थे।

"मैं गांधी जी को व्यक्तिगत रूप से इतना बड़ा वीर मानता हूँ जिसकी तुलना आसानी से खोजे नहीं मिल सकती," अपने एक-एक शब्द पर जोर देते हुए शरत्‌चन्द्र ने कहा: "मेरे मन में उनके प्रति तुम लोगों से कहीं अधिक श्रद्धा है। उनके प्रति मेरे मन में यदि यह श्रद्धा न होती तो आज मैं किसी के भी दबाव या आग्रह से हवड़ा जिला कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष-पद कभी स्वीकार न करता। पर उनके सिद्धांतों से अक्षरशः सहमत होने की कसम मैंने नहीं खायी है। मैं मनुष्य हूँ, मिट्टी का जड़ पुतला नहीं। इसलिये किसी भी साधारण या महत्वपूर्ण विषय पर स्वतंत्र रूप से चिन्तन करने की समर्थता मुझमें है।"

इसके बाद फिर उस विषय पर बहस बढ़ाने की कोई गुंजाइश नहीं रह गई। धीरे-धीरे विषय बदला। शरत्‌चन्द्र के परिचित किसी एक गाँव के निवासियों के संबंध में व्यक्तिगत रूप से चर्चा चल पड़ी। मुझे उस विषय में कोई दिलचस्पी नहीं थी, इसलिये मैंने हाथ जोड़ कर विदा ले ली।

× × ×

सशस्त्र क्रांतिकारियों के प्रति शरत्चन्द्र का स्वाभाविक आकर्षण किस हद तक प्रबल था, इसका पता मुझे उन्हीं के मुँह से समय-समय पर सुनी हुई छिटफुट बातों से मिलता रहता था। उन्होंने बताया कि जब वह बरमा में थे तब कई क्रांतिकारियों को अलग-अलग अवसरों पर उन्होंने अपने यहाँ आश्रय दिया था और अपनी साधारण स्थिति के अनुसार उनकी आर्थिक सहायता भी की थी।

क्रांतिकारियों को सहायता

कलकत्ता आने पर जब उनकी साहित्यिक कृतियों की लोकप्रियता बढ़ी और उनकी आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी हो गयी तब वह अपने परिचित और अपरिचित क्रांतिकारियों की आर्थिक सहायता प्रायः नियमित रूप से करते रहे। सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी रासबिहारी बसु जब पुलिस की कड़ी नजर के घेरे के भीतर फँस गये और भागने की योजना बनाने लगे तब क्रांतिकारी दल के एक व्यक्ति ने एक दिन सहसा प्रायः दस बजे रात उनके पास आकर सूचित किया कि तुरंत सात हजार रुपया न मिलने से वह (रासबिहारी बसु) सीमांत पार होकर भाग नहीं सकते। शरत्चन्द्र अत्यन्त चिन्तित हो उठे। उनके पास इतना रुपया नहीं था। कुछ देर तक वह मेज पर झुक कर उसी चिंतामग्न अवस्था में अपने सिर के बालों पर हाथ फेरते रहे। अन्त में आशा की एक क्षीण रेखा उन्हें दिखायी दी। वह उसी समय उठ कर चल दिये। अपने परिचित एक मारवाड़ी सज्जन के पास जाकर उन्होंने प्रार्थना की और प्रोनोट लिख कर रुपया ले आये। इस प्रकार उन्होंने उस क्रांतिकारी का उद्धार किया जिसके प्रति उनके मन में बड़ी श्रद्धा थी।

हवड़ा-डकैती

हवड़ा डकैती के मामले में लालबिहारी नाम का एक व्यक्ति जेल से फरार होकर उनके पास आश्रय के लिये चला आया। उस जमाने में ब्रिटिश सरकार की प्रचंड आतंकपूर्ण नीति और घोर दमन-चक्र का रवैया ऐसा था कि कोई भी साधारण व्यक्ति इस तरह के फरार असामी को अपने यहाँ आश्रय देने का साहस नहीं कर सकता था। पर शरत्चन्द्र ने उसे केवल आश्रय ही नहीं दिया बल्कि अपना अनुचर बना कर वह उसे नियमित रूप से मासिक वेतन भी देते रहे।

जब वह बाहर कांग्रेस का काम कर रहे थे तब अपने अन्तर्प्राणों के विश्वास को 'पथेर दाबी' नामक उपन्यास के माध्यम से अभिव्यक्त करने में संलग्न थे।

२

रवीन्द्रनाथ के प्रति शरत्चन्द्र के मन में असीम श्रद्धा की भावना वर्तमान थी। दुर्भाग्य से रवीन्द्रनाथ के स्वयंसिद्ध 'चेलों' ने शरत्चन्द्र की कलात्मक प्रतिभा और जीवन-संबंधी दृष्टिकोण को प्रारंभ ही से रवीन्द्रनाथ के आगे गलत ढंग से रखना आरंभ कर दिया। इधर शरत्चन्द्र के स्वयम् 'चेलों' ने पलटे में यह प्रचारित और 'प्रमाणित' करना आरंभ कर दिया कि शरत्चन्द्र की प्रतिभा रवीन्द्रनाथ से महान् है। इस प्रकार दो साहित्यिक दलों ने पारस्परिक द्वन्द्व और प्रतिद्वन्द्व द्वारा दो महाकलाकारों के बीच मनमुटाव उत्पन्न करने में कोई बात उठा नहीं रखी। आश्चर्य है कि इन सब साहित्यिक कूटचक्रों का प्रभाव शरत्चन्द्र की अपेक्षा रवीन्द्रनाथ पर अधिक पड़ा और ज्यादा गलतफहमी उन्हीं को हुई। फल यह हुआ कि प्रारंभ में रवीन्द्र ने शरत् साहित्य को खुले मन से नहीं पढ़ा। उन्हें सब से पहले 'देवदास', 'आंधारे आलो' आदि ऐसी रचनाएँ पढ़ने को दी गयीं जिनमें चीतपुर के उन स्थानों का चित्रण किया गया था जहाँ अभागिनी नारियाँ सामाजिक शोषण के फलस्वरूप अपने शरीर को बेचने के लिये विवश होकर अड्डा जमाये रहती थीं। यद्यपि शरत् ने उन पतिताओं के भीतर निहित नारीत्व को उभारने के लिये ही उनका चित्रण किया था, तथापि कला के उच्चतम और शुभ्रतम शिखरों में उड़ान भरने वाले महाकवि के विरोधी संस्कारग्रस्त मन पर उन रचनाओं को पढ़ने से आरंभ में कुछ दूसरा ही प्रभाव

पड़ा। संभवतः एक विशेष अवस्था को पार करने के बाद मनुष्य या तो कुछ अधिक ईर्ष्यालु हो जाता है या उसके मन पर विरोधी संस्कार कुछ जल्दी घर करने लगते हैं। जब वसिष्ठ और विश्वामित्र जैसे महामुनियों में भी पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा के पौराणिक किस्से सुने जाते हैं तब इस युग के मुनियों में भी इस प्रवृत्ति के अस्तित्व पर कुछ विशेष आश्चर्य नहीं होना चाहिये। कारण जो भी हो, इतना निश्चित है कि जब शरत् की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई तब रवीन्द्रनाथ ने उनकी कला के प्रति व्यंग कसना आरंभ कर दिया। मुझे अच्छी तरह याद है, रवीन्द्रनाथ ने एक लेख में शरत् पर छींटे उड़ाते हुए लिखा था: "कला का निवास स्वर्गिक कल्पना और दिव्य अनुभूति के पवित्र मंदिर में है, चीतपुर की गंदी गलियों में नहीं।"

रवीन्द्र बनाम शरत्

इसके उत्तर में शरतचन्द्र को भी अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिये बहुत-सी बातें लिखनी पड़ी थीं और दोनों पक्षों के बीच कुछ समय तक अच्छा वादविवाद चला था। रवीन्द्रनाथ ने शरत्चन्द्र की 'सेक्स' संबंधी औपन्यासिक कृतियों पर जो व्यंग कसा उसमें उन्होंने साहित्यिक शि[illegible]ता और अपने विश्वासों की ईमानदारी की रक्षा पूर्ण मात्रा में की थी, पर उनके स्वयम् 'चेलों' ने उन पर अत्यन्त तीव्र, जघन्य, अयाचित और अनुचित आक्षेप किये। यहाँ तक कि उनके व्यक्तिगत जीवन के संबंध में भी अत्यन्त भ्रांतिपूर्ण, अशोभन और घृणित बातें प्रचारित की जाने लगीं। उन्हें वेश्यागामी, व्यभिचार का प्रचारक, नरक का कीट तक कहा गया। यह

सब पढ़ कर और सुन कर शरत्चन्द्र तिलमिला उठे। उन्होंने खीझ कर एक भाषण में अपने 'सेक्स' संबंधी उपन्यासों पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही थी, जिसके ठीक-ठीक शब्द इस समय मुझे याद नहीं हैं पर जिसका आशय निश्चित रूप से इस प्रकार था : "मैंने अभी मनुष्य की सेक्स संबंधी प्रवृत्ति का पूरा विश्लेषण कहाँ किया ! मेरे विपक्षी आलोचकों ने मुझ पर यह दोष लगाया है कि मैं केवल मानव-मन की गंदगी के कीचड़ को उछालने और उलीचने में ही रस लेता हूँ और घृणित तथा अश्लील बातों का प्रचार करता हूँ। पर वास्तविकता यह है कि अपनी रचनाओं में नीति संबंधी निष्ठा का जितना ध्यान मैंने रखा है उतना इस देश के दूसरे लेखक ने शायद ही रखा हो। अभी तक तो मैंने केवल इसी बात की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है कि पतित पुरुष और पतिता नारियों के भीतर भी मनुष्यत्व वर्तमान रहता है, जो जीवन की बाहरी परिस्थितियों की विवशता के कारण दबा रहता है और असाधारण परिस्थितियों के धक्कों से ऊपर उभर आता है। पर अपने विपक्षी आलोचकों की कृपा से— उनके अयाचित आक्रमणों की चोटों से—आज मैं यह महसूस करने लगा हूँ कि मनुष्य के अन्तर्मन में दबे हुए सेक्स संबंधी तत्वों का विश्लेषण जिस निर्मम रूप से मुझे करना चाहिये था (जिसके फलस्वरूप समाज का वास्तविक कल्याण होगा) वह मैंने नहीं किया, और न करके बहुत बड़ी भूल की। जिस दिन मैं पाश्चात्य देशों के श्रेष्ठ उपन्यासकारों की तरह मनुष्य की यौन-प्रवृत्ति के अगाध रहस्यों का उद्घाटन पर्दा-दर-पर्दा करके अपने पाठकों के आगे रख सकूँगा उस दिन मानूँगा कि मैंने वास्तव में कथा-साहित्य के क्षेत्र में कुछ काम किया है!"

रवीन्द्रनाथ को अपने तथाकथित 'चेलों' के मूर्खता से भरे हुए, अत्यन्त नीचतापूर्ण, घृणित और प्रत्येक दृष्टि से अनुचित आक्षेपों के कारण अत्यन्त ग्लानि हुई। उन्होंने सब को बुरी तरह डाँट बतायी और शरत् की तथाकथित गंदगी के दूसरे पहलू की ओर उन लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उस समय से रवीन्द्रनाथ ने शरत्चन्द्र के सभी उपन्यासों का अध्ययन अच्छी तरह से, खुले मन से करना आरंभ किया। और ऐसा करने के बाद शरत् की कला और दृष्टिकोण के संबंध में उनका मत प्रायः अस्सी प्रतिशत बदल गया। बीस प्रतिशत जो नहीं बदला उसके कारण कुछ तो मनोवैज्ञानिक थे और कुछ वह विशेष सांस्कृतिक परम्परा थी जिसमें रवीन्द्रनाथ पले थे।

पतिता के भीतर देवीत्व

पतिता के भीतर भी नारीत्व—बल्कि देवीत्व—निहित रहता है इस तथ्य से रवीन्द्र के समान महाकवि और महान अन्तर-द्रष्टा अपरिचित हो यह असंभव था। उन्होंने स्वयं 'पतिता' शीर्षक जो बहुत प्रसिद्ध लम्बी कविता लिखी थी उसमें अभागिनी, समाज-निन्दिता और कलंकिता नारी के अन्तर की वेदना का जो अपूर्व सुन्दर विश्लेषण किया गया है वह विश्व-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखता। तरुण-तापस को अपने लालसा-सिक्त सौंदर्य-पाश में बाँध कर उसे साधना-भ्रष्ट करने के उद्देश्य से नगर की जब प्रसिद्ध नटी तपोवन में जाती है तब जीवन में प्रथम बार एक रमणी (और वह भी अनुपम सुन्दरी) के दर्शन से उस किशोर तपस्वी के अन्तर में विशुद्ध आनन्द की ऐसी दिव्य अनुभूति छा जाती है कि वह मग्न-मन होकर, पुलकित और विमुग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखता रह जाता

है और तब एक स्तव-गान उसके अन्तर से उठ कर उसके मुख से बरबस फूट निकलता है—वह साम-गीत जो उसके पूर्व वह केवल निर्जन गिरि-शिखर के ऊपर उदित होने वाली उषा के लिये रच सकता था—

आनन्दमयी मूरति तोमार
कोन देव आजि आनिले दिवा !
तोमार परश अमृत-सरस
तोमार नयने दिव्य विभा !

"तुम्हारी मूर्ति आनन्दमयी है। तुम कौन देव हो जिसने आज मूर्तिमान दिवा को मेरे आगे प्रकट कर दिया ! तुम्हारा स्पर्श अमृत के समान सरस है और तुम्हारी आँखों में स्वर्गीय ज्योति जगमगा रही है !"

अन्तर की अकलुष अनुभूति से निकली हुई, किशोर-कुमार तपस्वी के प्राणों की वह निश्छल वंदना उस पतिता के हृदय के ऊपर तह-पर-तह जमे हुए युग-युग के कल्मष को धो कर, उसके भीतर छिपे हुए विशुद्ध देवीत्व को स्वयं उसकी अपनी आँखों के आगे लाकर रख देती है। पल में किसी दैवी स्पर्श से उसकी युगों से जंग खाई हुई मानसिकता बदल जाती है और परम्परागत झूठे संस्कार (व्यक्तिगत तथा सामाजिक) नष्ट होकर एक दिव्य चेतना से उसकी सारी आत्मा ओत-प्रोत हो उठती है। वह उसी क्षण से पेशा छोड़ देती है और जिस राजमंत्री ने उसे बहुत से धन का प्रलोभन देकर तपोवन भेजा था उसे यह पुरस्कार लौटाते हुए एक लंबा पत्र लिख कर भेजती है, जिसमें दूसरी बहुत-सी बातों के साथ वह कहती है—

"यह ठीक है कि हम लोग घृणित वारांगनाएँ हैं। देवता जब सोते हैं तब हम लोगों का दिन होता है (अर्थात् जब सभी

भले आदमी सोते हैं तभी हम लोगों के यहाँ 'मंगल-उत्सव' आरंभ होता है) और देवता जब जगते हैं तब हम लोगों की रात आरंभ हो जाती है। इस धरती के नरक के सिंहद्वार में हम संध्या की बत्ती जलाती रहती हैं।

"पर तुम जो राजा के मंत्री हो, तुम्हारा व्यवसाय हम लोगों से भी घृण्यतर है। तुम सिंहासन की ओट में बैठकर मनुष्य के ही फंदे से मनुष्य को फँसाना चाहते हो।

"मैं क्या केवल तुम्हारा गुप्त अस्त्र हूँ? क्या हृदय नाम की कोई चीज मेरे भीतर नहीं है? सामाजिक विवशता के कारण मैंने धर्म अवश्य त्याग दिया था, पर क्या तुम यह समझते हो कि धर्म ने भी मुझे एकदम त्याग दिया?

"यह ठीक है कि मैं कुल-कर्म से हीन रही हूँ और लाज-शरम भी मुझ में नहीं रही है, पर मुझ जैसी अभागिनियों में नारी का नारीत्व फिर भी शेष है, यह महत्व की बात भूल जाना क्या उचित है?"

"जब प्रथम रमणी के दर्शन से मुग्ध ऋषि-कुमार ने अपनी सुन्दर, भोली और प्यारी-सी आँखों से मेरी ओर देखा, तब मेरे हृदय में नारी की महिमा की विजय-भेरी बज उठी।

"जननी का स्नेह, रमणी की दया और कुमारी की नव-नीरव प्रीति ने मेरी हृदय-वीणा के तारों को सम्मिलित गीत से झंकृत कर दिया।

"(जब कुमार ने अकपट भाव से मेरी स्तुति रचकर वन्दना-गान सुनाया तब मुझे लगा कि) मैं धन्य हूँ, जो विधाता ने मुझे नारी के रूप में सिरजा है।

'मिलन की मधुरात्रियों में कितने ही मुग्ध-हृदयों ने मेरे इस मिट्टी के शरीर को स्वर्ग मान कर न जाने कितनी मीठी-

मीठी, चाटुपूर्ण बातें इसकी प्रशंसा में कही हैं, पर निर्मल-हृदय तापस-कुमार के मुख से जो सत्य-वाणी फूट निकली वह मैंने पहली ही बार सुनी।

"मुझे लगा कि मेरे भीतर सचमुच देवता है, और मैं ऋषि-किशोर की आँखों के लिये सचमुच स्वर्ग की दिव्य-ज्योति लायी हूँ।"

"'मेरे भीतर के साधकहीन देवता हृदय-सागर की अगमता में एकाकी सो रहे थे। ऋषि-बालक ने सर्व-प्रथम उन्हें जगा कर उन पर पूजा के फूल चढ़ाये।"

इस तरह की और भी बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर बातें वह पतिता (जिसके अन्तर का देवता ऋषि-कुमार की पुण्य दृष्टि के स्पर्श से जग पड़ा है) अपने पत्र में कहती है। ठीक इसी तरह शरत् के 'देवदास' की चन्द्रमुखी के भीतर का सुप्त देवता चरित्रहीन तथापि सरल-हृदय देवदास के निश्छल प्राणों के स्पर्श से जाग उठा था, और 'आँधारे आलो' की बिजली नाम की नर्तकी के भीतर सोया हुआ नारीत्व भी ठीक इसी तरह सत्य नामक नवयुवक के निष्कलुष अन्तर की भोली प्रेम-याचना के कारण उत्पन्न हुए पश्चात्ताप के फलस्वरूप उभर उठा था। यदि सच पूछा जाय तो शरत्चन्द्र को इस तरह की कहानियों की प्रेरणा मूलतः रवीन्द्रनाथ की 'पतिता' शीर्षक कविता से ही प्राप्त हुई थी। इसलिये इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है कि प्रेरणा के मूल सूत्रधार द्वारा ही शरत् की उक्त कोटि की रचनाओं पर व्यंग किया गया!

इस संबंध में रवीन्द्र की और शरत् की कल्पना में इतना अन्तर अवश्य था कि रवीन्द्र ने तपोवन के निर्मल प्राकृतिक वातावरण को अपनी 'पतिता' के अन्तर में निहित देवता के

लिये उपयुक्त क्षेत्र माना और शहर की गंदगी से बहुत दूर रहने वाले ऋषि-कुमार को उस जागरण का प्रेरक बनाया, जबकि शरत् ने ग्राम के निश्छल और निर्मल वातावरण से शहर की गंदगी के बीच में आने वाले देवदास और सत्य को यह गौरव प्रदान किया। पर इस बात से शरत् के दृष्टिकोण की हीनता प्रमाणित होने के बजाय उसकी महत्ता ही सिद्ध होती है। जीवन की प्रतिदिन की यथार्थता से दूर, तपोवन के निर्जन और निर्मल वातावरण में मनुष्य के भीतर छिपे हुए देवत्व की अनुभूति जगा सकना उतना कठिन नहीं है जितना शहर के निर्मम रूप से कठोर यथार्थ जीवन के नरक की पंकिलता के बीच में निष्कलंक, स्वर्गिक कमल के लुप्त बीज को खोज निकालना। जिस स्वर्ग की स्थापना प्रतिदिन के यथार्थ जीवन की घोर नारकीयता के बीच में नहीं हो पाती उसका कोई विशेष मूल्य आधुनिक युग के जीवन के विषम ज्वर से जर्जरित प्राणों के लिये है, ऐसा मैं नहीं मानता। जहाँ तक रवीन्द्र की उक्त कविता में कल्पना की उच्चता और अनुभूति की मार्मिकता का प्रश्न है वहाँ तक मैं उसका पूरा कायल हूँ और जैसा कि कह चुका हूँ, उसे मैं विश्व-साहित्य में अपने ढंग की अनूठी रचना मानता हूँ। पर जहाँ तक यथार्थ जीवन संबंधी दृष्टिकोण का प्रश्न है, मैं 'देवदास', 'आँधारे आलो' आदि रचनाओं में चित्रित की गई यथार्थ जीवन की पतिताओं से संबंधित शरत् की औपन्यासिक योजना को उससे अधिक महत्व देता हूँ।

अप्रासंगिक होने पर भी यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देने की आवश्यकता मेरे लिये आ पड़ी है। जीवन और साहित्य के प्रत्येक सत्य या तथ्य के अनेक और विभिन्न पहलू होते हैं। केवल एक ही पहलू पर विचार करने से उनकी पूर्णता का

बोध कदापि नहीं हो सकता। और यदि उनके विभिन्न पहलुओं पर अलग-अलग रूप से मन्तव्य प्रकट किये जायँ तो वे परस्पर विरोधी लगने लगते हैं। इसलिये किसी भी महान् सत्य पर परिपूर्ण और चतुर्दिक प्रकाश डालने को उत्सुक, ईमानदार आलोचक के लिये सब से बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि जब वह एक सत्य के विविध रूप दिखा कर उसकी समग्रता और समन्वयात्मकता पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करता है तो एक ही विषय पर उसके विचारों में ऊपरी वैपम्य देखकर साधारण पाठक उलझन में पड़ जाते हैं। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने एक बार अपनी इसी कठिनाई का उल्लेख किया था। समझदार पाठक समझ गये होंगे कि यह बात मैं अपनी सफाई में लिख रहा हूँ। इसी पुस्तक के एक दूसरे निबंध में मैंने 'देवदास' के नायक के चरित्र-चित्रण की आलोचना करते हुए शरत् के मनोविश्लेषणात्मक 'एप्रोच' की त्रुटि दिखलायी है। वर्तमान निबंध में उसी 'देवदास' नामक उपन्यास के दृष्टिकोण का महत्व घोषित करते हुए मैंने जो कुछ कहा है उससे संभवतः दूसरे निबंध की कुछ बातों का साम्य प्रकट में न बैठता हो। पर मैं पाठकों को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि दोनों निबंधों में कही गई बातें एक ही सत्य के दो रूप हैं। वास्तविकता यह है कि एक ही उपन्यास में शरत्चन्द्र के दो दृष्टिकोण हमारे सामने आते हैं। जहाँ तक चीतपुर के घोर नरक में सामाजिक कुप्रथा और आर्थिक कुव्यवस्था के फलस्वरूप शोषिता, अभागिनी चन्द्रमुखी के भीतर नारीत्व की पूर्ण चेतना जगने का प्रश्न है, वहाँ तक शरत् के दृष्टिकोण की महत्ता में तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता। पर जहाँ उन्होंने कोरी भावुकता से प्रेरित होकर यह दिखाया है कि देवदास अपनी

निपट चारित्रिक दुर्बलता के कारण झूठी सामाजिकता से दब कर, अपनी प्रिय-पात्री पार्वती से विवाह करने का साहस नहीं कर पाता और उसे एक बुड्ढे के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करने को विवश करके स्वयं चीतपुर के नरक में गर्क होने के लिये चला जाता है, उस नरक से फिर कभी उबर नहीं पाता— निरंतर नीचे की ओर गिरता ही चला जाता है, और यह सब होने पर भी उसकी आत्मघाती और समाजघाती भावुकता लेखक की दृष्टि में अन्त तक बड़ी निश्छल और महान बन कर पाठक के सामने आती है, वहाँ लेखक के 'एप्रोच' और दृष्टिकोण की बहुत बड़ी त्रुटि मैं मानता हूँ। यह ठीक है कि चरित्रहीन के भीतर भी महान् मनुष्यत्व के बीज निहित होते हैं। पर उन बीजों के विकास की संभावनाएँ न दिखाकर यदि कलाकार केवल उस दुर्बल-प्राण पात्र के हृदय की निश्छलता के कारण ही उसे सामाजिक कल्याण के लिये आदर्श के रूप में उपस्थित करे तो मेरी दृष्टि में यह बहुत बड़ी कमी है— मनोवैश्लेषिक विवेचन और सामाजिक मांगलिकता दोनों दृष्टियों से। मेरे एक दूसरे निबंध से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी।

३

हाँ, तो बात चल रही थी शरत् की रचनाओं के संबंध में रवीन्द्र के रुख पर। धीरे-धीरे जब शरत्चन्द्र के संबंध में रवीन्द्रनाथ के मन से विरोधी संस्कार हटने लगे और वह उनके (शरत्) के दृष्टिकोण का महत्व काफी बड़ी हद तक स्वीकार करने लगे तब दोनों के बीच वैयक्तिक घनिष्ठता भी स्थापित हो गयी।

शरतचंद्र के मन में प्रारम्भ ही से रवीन्द्रनाथ के प्रति अत्यन्त निश्छल श्रद्धा और अकपट आदर का भाव वर्तमान था। अपने जीवन-संबंधी दृष्टिकोण के विकास में उन्हें रवीन्द्र की रचनाओं से किस हद तक प्रेरणा मिली थी, इसका उल्लेख मैं कर चुका हूँ। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ की रचनाओं से जब सारा युग ही प्रभावित था तब यदि शरत् ने उनसे प्रेरणा पायी तो इसमें कौन-सी नयी विशेषता रही? उत्तर में मैं कहूँगा कि शरत् के समान महान् प्रतिभाशाली लेखक, जो अपने लिये एक स्वतंत्र रास्ता बनाने और नयी जमीन तैयार करने में पूर्णतः समर्थ हो, अपनी उस समर्थता का झूठा प्रदर्शन न करके यदि अपने एक पूर्वज और समसामयिक कवि तथा कलाकार से प्रेरणा ग्रहण करते हुए ईमानदारी से उस बात को स्वीकार करे, तो यह सचमुच उसकी बड़ी विशेषता है—खासकर उस हालत में जब हम जीवन में इस बात के अनेक उदाहरण पाते हैं कि एक ही युग के विभिन्न प्रतिभाशाली लेखक, कवि और कलाकार परस्पर ईर्ष्या रखते

हुए, केवल विरोध के लिये एक दूसरे का विरोध करते रहते हैं।

मैंने जब-जब शरत् के आगे रवीन्द्रनाथ की चर्चा चलायी तब-तब उनकी आँखों में आंतरिक उल्लास चमकता हुआ पाया। विभिन्न विषयों में उनकी प्रतिभा की महानता प्रमाणित करते हुए वह कभी थकते नहीं थे। रवीन्द्रनाथ की कविताओं का वह प्रायः नित्य ही पारायण करते थे। जिस मेज पर वह लिखने बैठते थे उसके पास ही चुनी हुई और आवश्यक पुस्तकों का एक 'रैक' रहता था, जिसमें कुछ दूसरी पुस्तकों के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ की प्रायः सभी पुस्तकों को शरत् ने विशेष रूप से चमड़े की बहुत बढ़िया बाइंडिंग से सजाकर रखा था, जिसके बाहर सुनहरे अक्षरों में पुस्तक और लेखक के नाम अंकित रहते थे। प्रतिदिन रवीन्द्रनाथ की एक-न-एक पुस्तक उनकी मेज पर अवश्य पड़ी रहती थी।

एक बार एक सज्जन ने उनके पास जाकर उन्हें खुश करने के इरादे से कहा: "आप जितना ही सुन्दर लिखते हैं उतना ही स्पष्ट भी। आपकी रचनाएं हम लोगों की समझ में अच्छी तरह आ जाती हैं, पर रवीन्द्रनाथ ऐसी अस्पष्ट और उलझी हुई शैली में लिखते हैं कि कुछ भी ठीक से समझ में नहीं आता।"

शरतचंद्र ने तत्काल गंभीर भाव से उत्तर दिया: "रवीन्द्रनाथ हमलोगों के लिये लिखते हैं और मैं तुमलोगों के लिये लिखता हूँ!"

रवीन्द्रनाथ के साहित्य की निन्दा उनसे सह्य नहीं होती थी—विशेषकर जब वह निंदा काव्य और कला के गंभीर और निगूढ़ तत्वों से अपरिचित निन्दकों द्वारा की जाती थी।

जब रवीन्द्रनाथ की जयंती उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर बड़े समारोह से मनायी गयी तब शरतचंद्र ने उसमें

पूरा सहयोग दिया। उसी जयंती के सिलसिले में आयोजित साहित्य परिषद् की अध्यक्षता भी उन्होंने की।

कुछ वर्ष बाद जब बंगाल के साहित्यकारों ने शरत् जयन्ती मनाने का आयोजन किया तब रवीन्द्रनाथ ने लिखा कि "अभी से शरत् की जयंती मनाने की आवश्यकता क्या है जबकि उनके आगे अभी बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है और उन्हें बहुत कुछ देखना, सुनना, और अनुभव करना बाकी है ?" तब शरत् पचपनवाँ वर्ष पार कर चुके थे। पर ऐसा लिखते हुए भी रवीन्द्रनाथ ने उनकी जयन्ती के अवसर पर एक छोटी-सी नाटिका उन्हें अर्पित की।

जो नये लेखक शरत् के 'अनुकरण' का प्रयास करते हुए लिखते थे उनमें कुछ की पुस्तकों की लंबी आलोचना '(रिव्यू' के रूप में) रवीन्द्रनाथ ने की थी, और ऐसा करते हुए बड़े-कड़े व्यंग कसे थे —शरत् पर उतना नहीं जितना उन नक्कालों की अक्षमता पर। इसी तरह की किसी एक पुस्तक की विस्तृत पर्यालोचना के सिलसिले में रवीन्द्रनाथ ने कुछ इस आशय की बात कही थी "'चरित्रहीन' व्यक्तियों के भीतर भी महत्ता निहित रहती है, यह बात हम लोग शरत्चंद्र से जान चुके हैं। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस महत्ता का परिस्फुटन केवल तभी हो सकता है जब व्यक्ति हीनता को केवल हीनता के लिये अपनाता चला जाय।"

शरत् बहुत ही भावुक-प्राण और अनुभूतिशील कलाकार थे। यह भावुकता केवल उनकी रचनाओं में (विशेषकर प्रारंभिक रचनाओं में) ही नहीं पायी जाती, उनके स्वभाव में भी पूर्ण मात्रा में वर्तमान थी। १९२५ में जब उनका प्यारा और

स्वामिभक्त कुत्ता भेलू चल बसा तब वह सचमुच रो पड़े। उन दिनों जो भी उनसे मिलने जाता उसके आगे वह भेलू की ही गुणगाथा सुनाने लगते और उसकी मृत्यु से उनके हृदय को कैसी तीव्र व्यथा पहुँची है, इस तथ्य को अच्छी तरह समझाने का प्रयत्न करते। भेलू उनसे मिलने को जाने वाले व्यक्तियों का 'स्वागत' किस रूप में करता था और उन लोगों को किस तरह भयभीत किये रहता था, यह बात वह भूल ही जाते थे। उनका दुःख देखकर दूसरा भी कोई उस बीते हुए अनुभव की याद क्यों दिलाता!

भेलू की मृत्यु के बाद उन्होंने अपने एक आत्मीय बन्धु को एक पत्र लिखा था, जिसका आशय इस प्रकार है:—"लगता है कि पृथ्वी में 'आबजेक्टिव' कुछ भी नहीं है, "सबजेक्टिव' ही सब कुछ है। वर्ना एक साधारण कुत्ते की मृत्यु से मुझे सारा जीवन ही इस तरह बदला हुआ क्यों लगता! राजा भरत संबंधी पौराणिक उपाख्यान की सचाई का अनुभव मुझे आज हो रहा है। इसके पहले मैं नहीं जानता था कि संसार में एक छोटी-सी घटना के कारण इतनी बड़ी व्यथा संभव हो सकती है।'

आवारा कुत्तों के प्रति शरत् के हृदय में सहज ही स्नेह और दया को भावना उभर उठती थी। जब वह बर्मा में थे तब और उसके बाद भी वह कई आवारा कुत्तों को अपने हाथ से बड़े प्यार से खिलाते थे। कई आवारा कुत्ते उनसे इस कदर हिल गये थे कि उन्हें देखते ही प्यार से पूँछ हिलाने लगते और उनका स्नेह-स्पर्श पाने और खेलने के लिये अत्यन्त लालायित हो उठते। जब कभी वह किसी व्यक्ति को किसी आवारा कुत्ते को छेड़ते या मारते हुए देखते तब उस पर बुरी

तरह बिगड़ जाते और उसे एक लंबा लेक्चर पिला देते। उसके बाद उस मार खाये हुए आवारा कुत्ते को बिस्कुट या और कोई चीज खिलाते।

कलकत्ते में उन्होंने अपने ड्राइवर को विशेष रूप से यह हिदायत दे रखी थी कि वह हर हालत में राह में चलने वाले कुत्तों को बचाकर गाड़ी चलावे। उन्होंने उसे यह चेतावनी भी दे रखी थी कि यदि कभी वह किसी कुत्ते के ऊपर गाड़ी चला देगा तो उसे नौकरी से बरखास्त कर दिया जायगा।

कुत्ते के मनोभावों का ज्ञान भी उन्होंने काफी हद तक प्राप्त कर लिया था। एक दिन उन्होंने मुझसे तनिक परिहास की मनःस्थिति में जो यह कहा था कि "भेलू तुमसे नाराज नहीं है, तुम्हें बनाता है," और यह भी समझाया था कि कुत्ते प्यार में भी भूँकते हैं, मनुष्यों को पहचानते और उनके मनोभावों को भी किसी हद तक समझते हैं, आदि-आदि, तो उनकी वे सब बातें उस समय मुझे कुछ अजीब-सी लगी थीं, पर बाद में जब मुझे भी कुछ कुत्तों के निकट संपर्क में आना पड़ा, तब मैंने जाना कि शरत् कुत्ते के मन के भीतर भी किस हद तक पैठ चुके थे। जिस देश में पुरानी कथाओं के अनुसार युधिष्ठिर जैसे महापुरुष हो चुके हैं जो अपने राह के साथी कुत्ते के बिना स्वर्ग में भी प्रवेश करना नहीं चाहते थे, उस देश में कुत्तों की घोर दुर्दशा देखकर शरत् को रोना आता था। बार-बार मार खाने, दुरदुराये जाने, जूठे पत्तल चाटकर, गंदगी से पेट-भर-कर, सड़कों में पड़े रहने और नालियों में सड़ने को वाध्य किये जाने पर भी वे कुत्ते मनुष्य-द्वेषी नहीं बनते और मनुष्य को प्यार करना नहीं छोड़ते। अपने उस प्यार और वफादारी के बदले घोर घृणा और उपेक्षा पाने और निपट अस्वास्थ्यकर

परिस्थितियों में जीवन बिताने को बाध्य होने के कारण अन्त में जिस प्रकार के भयंकर और घातक चर्म-रोग का शिकार बनकर उन्हें इहलीला समाप्त करनी पड़ती है, इसे सब जानते हैं और देखते हैं। पर यह जानकर या देखकर इस देश के निवासी तनिक भी आतंकित नहीं होते। इस देशव्यापी जड़ता पर शरत् को जितना ही दुःख होता था उतना ही आश्चर्य भी।

उपेक्षित कुत्तों के प्रति शरत् के मन में प्रेम और दया का जो भाव वर्तमान था वह उनके अन्तर की उस महान् प्रेम-भावना का ही एक अंश था, जो किसी भी उपेक्षित और आवारा व्यक्ति या समाज के प्रति उनके मन में सहज ही में उमड़ उठता था। अपने उपन्यासों और कहानियों में उन्होंने उपेक्षित और आवारा पात्रों के चरित्र-चित्रण में जिस गहरी समवेदना का परिचय दिया है वह उनकी स्वयं अपने जीवन में पग-पग पर अनुभूत पीड़ा और प्यार का ही साहित्यिक प्रतिरूप था। जब जिस रूप में भी संभव हुआ वह बराबर उपेक्षितों और पीड़ितों की सहायता करते रहे। गरीब रोगियों की चिकित्सा के उद्देश्य से उन्होंने होमियोपैथी सीखी। अपने ऊपर झूठा कलंक लेकर भी उन्होंने कई निराश्रिता और अनाथा स्त्रियों का सामाजिक उद्धार किया।

साम्प्रदायिक विद्वेष से सर्वथा रहित

उनके मन में सांप्रदायिक विद्वेष भावना का लेश भी कभी नहीं रहा। उनके 'दत्ता' उपन्यास के संबंध में ब्राह्मसमाजियों ने उन पर यह दोष लगाया कि ब्राह्म-समाज के प्रति कटु-व्यंग करने के उद्देश्य से ही उन्होंने वह उपन्यास लिखा है और वह

भी कि वह ब्राह्म-द्वेषी कट्टर हिन्दू हैं। यह ठीक है कि 'दत्ता' में दो ऐसे ब्राह्म-समाजी पात्रों का यथार्थ चित्रण किया गया है जो घोर हिन्दू-विद्वेषी होने के साथ ही बहुत बड़े ढोंगी भी हैं। पर एक विशेष युग के समाज का एक विशेष चित्र उपस्थित करने के उद्देश्य से ही शरत् ने उन पात्रों को लिया था, न कि ब्राह्म-विद्वेष के कारण। उसी उपन्यास में ब्राह्म-समाज के ही कुछ ऐसे पात्र-पात्रियों का चित्रण भी है जो सहृदयता और उदारता में उनके उपन्यासों के कई हिन्दू पात्र-पात्रियों की तुलना में महान हैं।

सभी संप्रदायों के धार्मिक विश्वासों के प्रति उनके मन में आदर था। जब वह अपने पानित्रासवाले मकान में रहते थे तब एक दिन शाम को दो मुसलमान राहगीर उधर से होकर चले जा रहे थे। नमाज का समय देखकर वे शरत्चन्द्र के मकान के सामने ठहर गये और वजू करने के उद्देश्य से उन्होंने एक लोटा जल शरत् से माँगा। शरत् ने समझा कि शायद वे लोग पानी पीना चाहते होंगे। उन्होंने पानी दे दिया। जब वे दोनों उस पानी से वजू करके पास ही एक पेड़ के नीचे नमाज पढ़ने की तैयारी करने लगे तब शरत् ने उन्हें भीतर बुलाया और इस बात के लिये आग्रह किया कि वे उनके पश्चिम वाले बरामदे में नमाज पढ़ें। बरामदे में उन्होंने एक कालीन बिछा दिया। दोनों धार्मिक मुसलमान उस पर बैठकर नमाज पढ़ने लगे। नमाज समाप्त हो जाने के बाद शरत् ने उन अतिथियों की हर तरह से सेवा की। उन्हें खिलाया-पिलाया और रात में वहीं रह जाने के लिये कहा।

रवीन्द्रनाथ के आगे शरत्चन्द्र ने यह प्रस्ताव रखा था कि वह बंगाल के मुसलमान-समाज का चित्रण एक उपन्यास

लिखकर करें। जब रवीन्द्रनाथ किसी कारण से न लिख पाये, तब उन्होंने स्वयं लिखने का निश्चय कर लिया। उन्होंने तत्कालीन बंगाल के मुसलमान साहित्यकार काजी अब्दुल वदूद के आगे अपना यह विचार प्रकट किया और उनसे पूछा कि यह काम कैसा रहेगा ? काजी अब्दुल वदूद ने कहा, "यदि कोई हिन्दू लेखक सहानुभूतात्मक दृष्टि से मुसलमान-समाज को लेकर किसी उपन्यास की रचना करे तो मुसलमान समाज निश्चय ही उस रचना का आदर करेगा। शरत् ने उन्हें विश्वास दिलाया कि सहानुभूति और समवेदना ही उनकी रचना की मूल प्रेरणा होगी। उसके बाद उन्होंने कहा कि उपन्यास लिखने के पूर्व वह मुसलिम समाज के जीवन से भलीभाँति परिचित होना चाहते हैं और इसमें काजी साहब को उनकी सहायता करनी होगी। काजी साहब ने उन्हें वचन दिया कि वह इस सम्बन्ध में उन्हें हर तरह की सहायता और सुविधा प्रदान करेंगे। इस योजना की ओर वह काफी अग्रसर हो चुके थे और अपने इस नये उपन्यास के लिये उन्होंने कुछ 'नोट' भी लिख लिये थे। पर इसी बीच वह बीमार पड़ गये और वह बीमारी उनके प्राणों को लेकर ही शांत हुई।

× × ×

मेरे प्रारंभिक सुझाव के कारण हो या युग की प्रेरणा से हो, शरत्चन्द्र ने अपनी सुविधा से बाद में फ्रायड का अध्ययन आरंभ कर दिया था। पर उसके सिद्धान्त उन्हें इस कदर उलझनों से भरे और जी उकतानेवाले लगे कि बिना उनकी अंतिम तह तक पहुँचे ही उन्होंने फ्रायड की पुस्तकों को ताक पर रख दिया। फ्रायड की अपेक्षा उन्हें अंगरेज या

अमरीकी मनोविज्ञानवेत्ताओं की रचनाएँ अधिक जँचती थीं। 'सेक्स' संबंधी जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन उन्होंने अपने 'शेष प्रश्न' में किया है उसके लिये उन्हें हैवलाक एलिस, बरट्रेंड रसेल आदि लेखकों से प्रेरणा मिली थी। 'शेष प्रश्न' के दृष्टि-कोण में जो विषमताएँ और उलझनें रह गयी हैं उसके लिये उक्त दो लेखक विशेष रूप से उत्तरदायी हैं। पाश्चात्य लेखकों के 'सेक्स' संबंधी परस्पर विरोधी विचारों का परिपाक पूर्णतया कर सकना कोई आसान काम नहीं था; और फिर इन विचारों को तत्कालीन भारतीय जीवन की पृष्ठभूमि में ठीक से बिठाकर व्यापक जीवन की प्रगति की ओर उन्हें नियोजित कर सकना तो और भी कठिन काम था। फिर भी चूँकि यह उनका एक बिलकुल ही नयी दिशा की ओर कदम था, इसलिये उस ओर की स्वल्प सफलता भी उपयोगी सिद्ध हुई।

× × ×

शरत् की सबसे बड़ी सफलता

शरत्चन्द्र को सबसे बड़ी सफलता पारिवारिक जीवन संबंधी चित्रणों में मिली है। इस क्षेत्र में संपूर्ण भारतीय साहित्य में उनका कोई जोड़ नहीं है। आश्चर्य यह है कि अधिकांश जीवन आवारागर्दी में बिताने और पारिवारिक बंधन से बराबर दूर भागते रहने पर भी भारतीय कौटुम्बिक जीवन के अपूर्व माधुर्य और मर्मस्पर्शी रस-वेदना की जैसी अनुभूति उनके प्राणों में निहित थी और उनकी विविध रचनाओं में भरी पड़ी है, वैसी पारिवारिक बंधनों में बँधे हुए बड़े-बड़े लेखकों की रचनाओं में भी कभी नहीं पायी गयी।

उनका व्यक्तित्व बहुत ही गहन और विपुल होने पर भी

अधिक रहस्यात्मक नहीं था। उनके प्राणों की निश्छल सहृदयता तरल निर्मल जल की तरह स्वच्छ और स्पष्ट थी। उनकी भाव-विह्वलता न उनके स्वभाव में कभी छिपी रही न उनकी रचनाओं में। बुद्धि का 'कोटिंग' उनमें किसी हद तक अवश्य था, पर अधिक नहीं। उनमें न तो रवीन्द्रनाथ की बौद्धिक ऊँचाई और व्यापकता वर्तमान थी न अतलस्पर्शी रहस्यानुभूति की वह निगूढ़ता और निविड़ता। पर उनमें एक बहुत बड़ी विशेषता थी जो दूसरों को सहज में प्राप्त नहीं हो सकती। जीवन को सरल-सुस्पष्ट और सुलझी हुई दृष्टि से देखकर उसकी यथार्थता के भीतर सहज ही डुबकियाँ लगाकर, बिना किसी जटिल बौद्धिक प्रयास के उसके सच्चे रूप को हृदयंगम कर लेना और उस सच्चे रूप का चित्रण बिना किसी कृत्रिम काव्यात्मक कौशल के, केवल अपनी सहज अन्तरानुभूति की सहायता से करके, उसके भीतर छिपी मार्मिकता को प्रस्फुटित कर देना, यह इतनी बड़ी देन उन्हें प्राप्त थी जो अक्सर बड़े-बड़े लेखकों को भी सुलभ नहीं होती।

एक और बड़ी विशेषता

शरत्चन्द्र की एक और बड़ी विशेषता का उल्लेख आवश्यक है। जिन अनुभूतियों को उन्होंने स्वयं अपने संघर्षमय जीवन के अनुभवों से प्राप्त नहीं किया उनकी कोई चर्चा उन्होंने अपनी रचनाओं में नहीं की; जीवन के जिन रूपों और जिस प्रकार की घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण उन्होंने स्वयं नहीं किया उनका वर्णन अपने साहित्य में करना उन्होंने कभी उचित नहीं माना।

उन्होंने विभिन्न प्रकार के और विभिन्न श्रेणियों के लोगों के साथ जीवन बिता कर गहरे और व्यापक अनुभव प्राप्त किये थे। साधुओं के कुछ अखाड़ों में वह जोगियों का 'भेस' बनाकर

रहे थे। किसानों और कुली-मजदूरों के बीच में उन्हीं का-सा रूप बनाकर वह बहुत दिनों तक रोग-शोक और दुःख-दारिद्रय से पीड़ित उस जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव करते रहे। उन लोगों के बीच में वह इस ढंग से रहते थे कि किसी को पता ही नहीं चल पाता था कि वह शिक्षित 'भद्रलोक' हैं। एक बार बरमा में जब वह कुछ मजदूरों के साथ मजदूरी करते हुए उन्हीं लोगों का ढर्रा अख्तियार किये हुए थे तब एक मजदूर के नाम उसके घर से तार आया। कोई तार पढ़कर अर्थ समझाने वाला न मिला। शरत् ने फिर भी यह नहीं बताया कि वह अंग्रेजी समझते हैं और तार पढ़ना जानते हैं। उनकी यह धारणा थी कि यदि वे लोग यह जान जाते कि एक 'भद्रलोक' उन लोगों के बीच में मजदूर बनकर रहने का ढोंग रचे हुए है और वास्तव में मजदूरी का पेशा करना उसके जीवन की विवशता या ध्येय नहीं है तो वे लोग उनसे कभी बेतकल्लुफ न हो पाते और मुक्त भाव से उनके साथ घुलमिल कर न रह पाते। उन्होंने वह तार ले लिया और 'एक परिचित व्यक्ति से पढ़ा कर आता हूँ' कह कर वहाँ से उठकर चल दिये। उसके बाद एकान्त में पढ़कर लौटे और उसका आशय उक्त मजदूर को समझा दिया।